

जनवरी-मार्च 2005 • दस रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

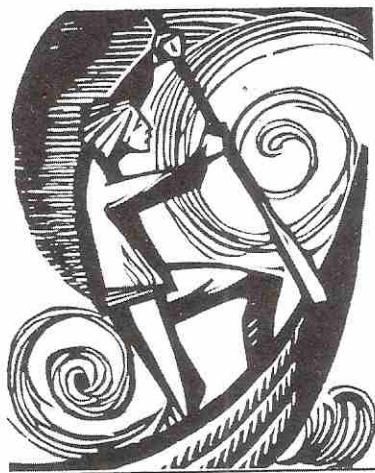
आद्वान

कैम्पस टाइम्स



छात्र-नौजवान नई शुरुआत कहाँ से करें

बेरोजगारी का असली पैमाना • नेटवर्क मार्केटिंग की असलियत
मुर्दाखोरों के हाथ में आपकी जान • लुटेरों की नई मैनेजिंग कमेटी
नेपाल में राजा का आत्मघाती कदम • एक नौजवान की आत्मकथा
राष्ट्रीय संस्कृति के लिए शिक्षा • कविताएँ



मुझे कदम-कदम पर
चौराहे मिलते हैं
बाँहें फैलाए!!

एक पैर रखता हूँ
कि सौ राहें फूटतीं,
व मैं उन सब पर से गुजरना चाहता हूँ:
बहुत अच्छे लगते हैं
उनके तजुर्बे और अपने सपने...
सब सच्चे लगते हैं;
अजीब-सी अकुलाहट दिल में उभरती है,
मैं कुछ गहरे में उतरना चाहता हूँ
जाने क्या मिल जाए!!

— मुकितबोध

आह्वान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विचारबिन्दु

► भारतीय क्रान्ति का रास्ता मेहनतकश वर्गों के नेतृत्व में साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति का रास्ता है। यह नई समाजवादी क्रान्ति का रास्ता है। यह शहीदेआजम भगतसिंह का रास्ता है। क्रान्ति ही नातम्मीदों की उम्मीद है। रसातल के अंधेरे में जीने वालों की ज़िन्दगी की रोशनी है। मृत्यु के अवसाद को तोड़ने वाला उत्सव का आहलाद है। 'आह्वान' इस तूफान का मुक्त कंठ से आह्वान करता है। 'आह्वान' इस तूफान का आनन्द लेने के लिए सभी युवा तूफानी पितरेत पक्षियों को न्यौता देता है।

► पूरा भारतीय समाज आज एक ज्वालामुखी के दहने पर बैठा है। अब यह सच्चाई एकदम उजागर हो चुकी है कि सण-विकलांग, बूढ़ा-बौना भारतीय पूँजीवाद आज जनता को कुछ भी सकारात्मक नहीं दे सकता। मेहनतकशों की ज़िन्दगी को इसने लूटमार, उत्पीड़न-शोषण और असहा पीड़ा-व्यथा के अंधेरे रसातल में ढकेल दिया है। अथाह दुखों के सागर में ऐश्वर्य के द्वीप और विलासिता की मानारें, संसद में पूँजीपतियों की दलाल चुनावी पार्टियों के बहसबाजों की धींगामुत्ती, विदेशी लुटेरों को लूट की खुली छूट, भ्रष्टाचार के नित-निरन्तर भंग होते कीर्तिमान, संवेदनाओं को कुद करती विकृत-बीमार साम्राज्यवादी-पूँजीवादी संस्कृति का धीमा जहर, संचार माध्यमों पर पूँजी की सर्वग्रासी पकड़, दिवालिया अर्थात्, नंगा राजनीतिक तंत्र, बिकता न्याय, बेतहाशा मैंहगी होती जा रही निरर्थक अनुपयोगी-अवैज्ञानिक शिक्षा, मायूली चिकित्सा के अभाव में मरते लोग—यही आज का वह नारकीय सत्य है जिसे फिलहाल, हारी हुई मानसिकता के शिकार लोगों ने अपनी नियति मान लिया है। इसे बदलने का रास्ता क्रान्ति का रास्ता है। क्रान्ति कठिन है, क्रान्ति का रास्ता लम्जा है, ध्वंसकारी है, पर इसके बिना नये का निर्माण असम्भव है। यही आज का ठण्डा सत्य है—नंगा सत्य है—पर यही मुक्तिवादी सत्य है। यही 'आह्वान' का निर्भीक उद्घोष है।

इस अंक में

पाठक मंच	4
अपनी ओर से	
छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें?	5
सामयिकी	
लुटेरों की नयी मैनेजिंग कमेटी भी भयाक्रान्त	10
बेरोजगारी का असली पैमाना	11
सुनामी	20
बेरोजगारी पर महामहिम की चिन्ता	49
इंसान को हैवान बना देती है यह मशीनरी	50
समाज	
मुद्राखोरों के हाथ में आपकी जान	9
नेटवर्क मार्केटिंग की असलियत	38
टेढ़ी आँखें तिरछी नज़र	
सा विद्या या विमुक्तये	22
साहित्य	
राजविन्द्र भीर की कविताएँ	41
सकर्मक विमर्श	
विश्व पटल पर	
इराक : फर्जी चुनाव के बाद की असलियत	19
नेपाल में राजा का आत्मघाती कदम	48
विरासत	
राष्ट्रीय संस्कृति के लिए शिक्षा	23
जन मुक्ति संघर्षों का महाकवि पाब्लो नेरुदा	26
स्मृति-शेष	
विलियम हिण्टन: एक तूफानी ज़िन्दगी	34
पॉल स्वीज़ी: एक प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी	37
नयी कलम से	
प्रसेन की कविताएँ	45
गतिविधि बुलेटिन	46

आह्वान

कैप्पस टाइम्स

मुक्तिकामी छात्रों-नौजवानों की

त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 13 अंक 1 जनवरी-मार्च 2005

सम्पादक मण्डल

कविता/अभिनव

सज्जा

रामबाबू

एक प्रति का मूल्य

दस रुपये

वार्षिक

चालीस रुपये

(डाक व्यव सहित 48 रुपये)

सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली फोन : (011) 22933561
स्वत्वाधिकारी आदेश सिंह द्वारा नौजवान कार्यालय, कल्याणपुर, गोरखपुर से प्रकाशित एवं
उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित।

युवा वर्ग का भविष्य

कहा जाता है, कि युवा ही देश का भविष्य है। जिस प्रकार एक माली अपने बाग की हमेशा देखभाल करता रहता है, ठीक उसी प्रकार आज का युवा ही देश अथवा समाज का माली है। किन्तु आज समाज में ऐसे युवाओं की कमी है। आज सारे देश और समाज में तबाही भर्ची हुई है, और मध्य वर्ग के युवा गरीबों के बारे में नहीं सोचते बल्कि अपने स्वार्थ के लिए अपने कैरियर के पीछे पड़े हैं। युवाओं को उनके बारे में सोचने का भी समय नहीं है। समझ में नहीं आता इन्हें क्या कहूँ। इन्हें तो युवा कहना ही गलत है। युवा तो वही है जो दूसरों के लिए अपनी सारी जिन्दगी दाँव पर लगा दे, जो हमेशा मजदूरों किसानों के लिए सोचे। यही सच्चे युवा की पहचान है। इन्हें ही युवा कहा जा सकता है। अगर कोई भी गरीब आदमी किसी सरकारी दफ्तर में जाता है तो विना दर्जनों चबकर लगाए और कुछ 'भेंट' के बिना काम नहीं होता है। ये सरकारी नौकरीयाँ मानों एक ही आवें के बर्तन हैं। जो भी उस आवें से निकलता है, या तो वह जला हुआ ही निकलता है, गलती से अगर कोई सही निकला तो वह भी जल्द ही उसी रंग में रंग जाता है, अगर फिर भी कोई बच गया तो इस समाज की पुलिस की मार से परेशान होकर वो भी वही काम करने लगता है। इस समाज को नर्क बना दिया गया है। नेता, पूँजीपति और चोर, मुनाफाखोर समाज में भ्रष्टाचार फैलाने का काम करते हैं। आज देश की राजनीति इतनी दूषित हो चुकी है कि कोई भी शरीफ आदमी इसमें प्रवेश कर नहीं सकता। दूसरे, पूँजीपति जो लाखों-करोड़ों रुपया नेताओं को देकर राजनीतिक शक्ति प्राप्त करते हैं। और इनके साथ पुलिस और प्रशासन मिलकर एक से बढ़ कर एक अपराध करते हैं। और नाम गरीब आदमी का लग जाता है। हम मानते हैं कि अब युवा ही देश को व्यवस्था बदलकर बचा सकते हैं। और इसके लिए सभी युवाओं को एकत्र होना पड़ेगा और फिर क्रान्ति करनी पड़ेगी।

इस लिए हम उन युवाओं का आह्वान करते हैं कि गरीबों की रोटी के लिए संघर्ष करें।

- शीलेन्द्र कुमार

989, कटरा मनमोहन पार्क

इलाहाबाद

पैसा

पैसा

सिर्फ पैसा

पैसे से कमाना है

देर सारा पैसा

पैसे पर टिका है

समृद्धा समाज

इसलिए पूजा जाता है

पैसा आज।

आदमी को आदमी नहीं समझता वह

जिसे लगी हो भूख पैसे की,

ईमानदारी और समझदारी की

कीमत ही क्या है

जब लगी हो भूख पैसे की!

सवार हो जाए सिर पर तो
आदमी बन जाता है इसका गुलाम
फिर...

नचाता है आदमी को पैसा
कठपुतलियों की तरह उंगलियों पर।
मुस्कान, अरमान और सारे सपने
सब कुछ तो बिक रहा है...
आखिर क्यों है यह समाज ऐसा
जहाँ आदमी बाद में
पहले है पैसा।

-टोनी, सोनीपत

प्रिय बन्धु,

पहली बार लिख रहा हूँ, इसलिए कुछ औपचारिक बातें अपने बारे में—मैं इसे वर्ष तक बी.एच.यू. में एम.ए.(हिन्दी पत्रकारिता) का छात्र बना रहा। आपकी पत्रिका से परिचित होने का अवसर वहीं मिला। कुछ बजहों के चलते मैं परीक्षा न दे सका। नतीजतन, पिछले मार्च से मानसिक अराजकता झेलता रहा और टूटा रहा।

फिर सोचा—नहीं! अपना कीमती जीवन मैं इस तरह नष्ट नहीं होने दूँगा।

और मैं लड़ूँगा, जूँझूँगा, संघर्ष करूँगा, खुद के लिए नहीं बल्कि तमाम बेबस-बेसहारा लोगों के लिए जिनका दुख मुझसे कई गुना ज्यादा है।

मैंने खुद को संभाला और कुछ मित्रों से विचार-विमर्श कर एक संगठन तैयार करने की ठानी। साथ ही, एक पत्रिका 'मशाल' नाम से निकालने की योजना बनी।

प्रयास है कि जल्दी ही प्रवेशांक आ जाए। मैंने लू शुन, गोर्की, चेखव, मार्क्स, लेनिन, और बाल्जाक को जमकर पढ़ा। आज भी कितने प्रार्थित हैं ये लेखक।

अनुपम निशांत
सम्पादक, 'मशाल'
एफ-37/23, सीप्रेण्ट फैक्ट्री,
चुनार
मीरजापुर - 231311

प्रिय बन्धु,

मैं आपके द्वारा शहीदे-आजम भगत सिंह और उनके विचारों को प्रसारित

(पेज 10 पर जारी)

एक अपील

'आह्वान कैम्पस टाइम्स' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फणिडंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए—हमारी यह दृढ़ मान्यता है।

अतः हम अपने सभी पाठकों-शुभचिन्तकों-सहयोगियों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मजबूती प्रदान करें।

अपनी ओर से

यह सम्पादकीय आलेख 'आह्वान' के पिछले दो अंको से जारी दीर्घ निबंध की ही अंतिम और समापन कड़ी है। 'आह्वान' के जनवरी-मार्च 2003 के अंक में इस सम्पादकीय की पहली किस्त 'किस चीज का इंतजार है? और कब तक?' दुनिया को तुम्हारी जरूरत है' शीर्षक से तथा दूसरी किस्त जनवरी-मार्च 2004 के अंक में 'उम्मीद महज एक भावना नहीं है' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। पाठकों से अनुरोध है कि लेख की इस समापन किस्त को पूर्व में प्रकाशित किस्तों के साथ जोड़कर पढ़ें।

विगत दो वर्षों के दौरान 'आह्वान' के मात्र दो अंक ही प्रकाशित हो पाये। अब हम न केवल नियमित प्रकाशन के नये संकल्प के साथ फिर से इसका प्रकाशन शुरू कर रहे हैं, बल्कि हमारी योजना वर्षत तक इसे मासिक बनाने की भी है। हमें विश्वास है कि अपने पाठकों के सक्रिय सहयोग समर्थन से हम अपने इस संकल्प को पूरा करने में सफल होंगे।

-सम्पादक

छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें?

जो नौजवान इस मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था को मानव इतिहास की आखिरी मैंजिल-'इतिहास का अन्त'-नहीं मानते, जिन्होंने प्रतिक्रिया की आतातायी शक्तियों की वर्तमान विजय को अपनी नियति के रूप में स्वीकार नहीं किया है, जिनके पास अतीत के क्रान्तिकारी संघर्षों की स्मृतियों की विरासत है, वे निश्चय ही भविष्य-स्वर्णों को मुक्ति की नयी परियोजनाओं में ढालने के लिए आगे आयेंगे। एक नये विश्व-ऐतिहासिक महासमर की तैयारी में ऐसे ही नौजवान अगली क़तारों में होंगे।

जहाँ बज रही है भविष्य-सिम्फनी
जहाँ स्वन खोजी यात्रा एँ कर रहे हैं
जहाँ ढाली जा रही हैं आगत की साहसी परियोजनाएँ,
स्मृतियाँ जहाँ ईंधन हैं,
लुहार की भाथी के कलेजे में भरी
बैचैन गर्म हवा जहाँ जिन्दगी को रफ़तार दे रही है,
वहाँ तुम्हें होना है
अगर तुम युवा हो!

(शशि प्रकाश)

ऐसे सभी बहादुर, न्यायप्रिय स्वाभिमानी, स्वपद्रष्टा और संवेदनशील युवाओं को विचारसम्पन्न बनने-क्रान्ति के विज्ञान को समझने-की प्रक्रिया में सबसे पहले इतिहास की एक बुनियादी शिक्षा को आत्मसाते करना होगा और वह यह है कि केवल शौर्य और शहादत के जज्बे के सहारे थोड़े से नौजवान क्रान्ति को अंजाम नहीं दे सकते। किसी देश के नौजवानों की बहुसंख्या भी यदि विद्रोह के लिए उठ खड़ी हो तो क्रान्ति का लक्ष्य हासिल नहीं किया जा सकता। आनन-फानन में क्रान्ति कर डालने का रूमानी ख़्याल बैचैन, विद्रोही युवा दिलों को प्रायः आकर्षित करता है और प्रायः युवा आन्दोलन को दुस्साहसवाद के आत्मघाती दलदल में ले जाकर धँसा देता है। अच्छी नीयत और पवित्र भावनाओं के बाबजूद यह दुस्साहसवाद भी क्रान्ति के लिए वैसा ही धातक होता है, जैसा रियायतों की चीथड़ों की भीख माँगने वाला सुधारवाद। एक सच्ची क्रान्ति हर-हमेशा जन-क्रान्ति हुआ करती है। बहुसंख्यक मेहनतकश जनता की संगठित शक्ति ही क्रान्तियों को अजांम दे सकती है। पूँजी की सत्ता की सुरक्षा में सन्दूँ मारक से मारक शस्त्रों से लैस सामरिक शक्ति को वह प्रचण्ड वेगवाही तूफान की तरह तबाह कर देती है। इतिहास का निर्माण नायक नहीं, बल्कि वह आम जनता करती है जो समस्त सामाजिक सम्पदा और संस्कृति की निर्मात्री होती है। इस बुनियादी सूत्र को कभी भूल नहीं जाना चाहिए। नायक जन्मना नहीं होते। संघर्ष और निर्माण की अनवरत प्रक्रिया में जनता के बीच से जो हरावल पर्कियाँ उभरकर आगे आती हैं, वही नायक की भूमिका निभाती हैं और उनमें से कुछ लोग मानो क्रान्ति का प्रतीक-चिह्न बन जाते हैं।

शहीद क्रान्तिकारी विचारक भगतसिंह ने भी अपने समय तक के भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास और अपनी पीढ़ी के अनुभवों से यही निष्कर्ष निकाला था कि थोड़े से क्रान्तिकारी युवा जनता को जागृत और संगठित किये बिना स्वयं हथियार उठाकर क्रान्ति को सफल नहीं बना सकते। निस्संदेह, समाज-व्यवस्था-परिवर्तन में बल की भूमिका धाय की होती है, बल-प्रयोग के बिना किसी राज्यसत्ता को चकनाचूर नहीं किया जा सकता। लेकिन ऐसा बल-प्रयोग केवल जागृत-संगठित जन-शक्ति ही कर सकती है। उस जन-शक्ति को जागृत-संगठित करने के लिए समाज के जागरूक, अग्रणी तत्व जनता के बीच जाते हैं, उसके बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई चलाते हैं और रोज़मरे की छोटी-छोटी माँगों को लेकर उन्हें संगठित होकर

संघर्ष करना सिखलाते हैं। और इससे भी पहले, इस प्रक्रिया में वे स्वयं समाज का अध्ययन करते हैं, अपनी समझ को परखते और पुँछा बनाते हैं, उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे को समझते हुए जनता को शोषण एवं दमन के बुनियादी कारणों एवं तौर-तरीकों से परिचित करते हैं, उसके सामने एक न्यायपूर्ण और समतापूर्ण वैकल्पिक सामाजिक ढाँचे की विश्वसनीय एवं व्यावहारिक तस्वीर पेश करते हैं और फिर उसके लिए संघर्ष के लिए जनसमुदाय को संगठित करते हैं। इस पृष्ठभूमि में उस महान संदेश की प्रारंभिकता सहज ही समझी जा सकती है, जो पचहत्तर वर्षों पहले फॉसी की कालकोटी से भगतसिंह ने इस देश के नौजवानों को भेजा था :

“नौजवानों को क्रान्ति का यह सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचाना है, फैक्ट्री-कारखानों के क्षेत्रों में, गन्दी बस्तियों और गाँवों की जर्जर झोपड़ियों में रहने वाले करोड़ों लोगों में इस क्रान्ति की अलख जगानी है जिससे आजादी और तब एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण असम्भव हो जायेगा।”

कोई पूछ सकता है कि यह जिम्मेदारी नौजवानों के ही कन्धों पर क्यों ? इसका स्टीक उत्तर चीनी क्रान्ति के महान नेता माओ त्से तुङ ने काफी पहले इन शब्दों में दे दिया था : “नौजवान लोग समाज की सबसे अधिक सक्रिय और सबसे अधिक प्राणवान शक्ति होते हैं। उनमें सीखने की सबसे तीव्र इच्छा होती है तथा उनके विचारों में रूढ़िवाद का प्रभाव सबसे कम होता है।” छात्रों से बातचीत करते हुए एक बार उन्होंने कहा था : “यह दुनिया तुम्हारी है, यह हमारी भी है, लेकिन अन्तरगत्वा यह तुम्हारी ही होगी। तुम नौजवान लोग औजस्तिता और जीवन-शक्ति से भरपूर, सुबह आठ या नौ बजे के सूरज की तरह अपनी जिन्दगी की पुरबहार मंजिल में हो। हमारी आशाएँ तुम पर लगी हुई हैं।”

व्यापक मेहनतकश जनता दो जून की रोटी और बुनियादी ज़रूरतों के लिए दिन-रात हाड़तोड़ मेहनत करती हुई उजरती गुलामी की चक्की में पिसती रहती है। सभ्यता-संस्कृति की विरासत और इतिहास के ज्ञान से चंचित करके, उससे इंसानी जिन्दगी की न्यूनतम शर्तें तक छीन ली जाती हैं। हालात से विद्रोह करके उनकी चेतना सामाजिक क्रान्ति की दिशा में बार-बार आगे बढ़ती है, लेकिन समाज और इतिहास के अध्ययन तथा क्रान्ति के विज्ञान की समझ के बिना क्रान्ति को संगठित नहीं किया जा सकता। ऐसे में क्रान्तिकारी परिवर्तन के स्वरूप, तरीके और राह से उन्हें परिचित कराने का दायित्व उन थोड़े से शिक्षित युवाओं के कन्धों पर ही होता है जो ज्ञान और संस्कृति की विरासत से लैस होते हैं। और सभ्यता-समीक्षा में सक्षम होते हैं। निश्चित ही वे शिक्षित युवा इस काम को अंजाम नहीं दे सकते, जो मुँह में चाँदी का चम्पच लेकर पैदा हुए हैं और जिनका “स्वर्ग” इसी व्यवस्था में सुरक्षित है। परजीवी शोषक जमातों से अपवादस्वरूप ही ऐसे साहसी युवा आयेंगे, जो अपने वर्ग से खुद को तोड़कर उत्पीड़ित जनता की

मुक्ति-परियोजना से जुड़ेंगे। यह दायित्व हर हाल में आम जनता के बहादुर, विवेकवान सपूत्रों का ही होगा।

ऐसे क्रान्तिकारी भावनाओं-विचारों वाले युवक आम जनता के बीच क्रान्ति का सन्देश महज प्रचारक या उपदेशक के रूप में लेकर नहीं जायेंगे। जनता का हरावल बनने के लिए उन्हें ‘जनता का आदमी’ बनना होगा, उसके जीवन और संघर्षों से एकरूप हो जाना होगा, उसे सिखाने के पहले उससे सीखना होगा। क्रान्ति के बारे में सिफ़्र किताबी जानकारी के बूते वे अमली कार्रवाइयों में सक्षम नहीं हो सकते। सिफ़्र ज्ञान-जगत में प्रतिबिम्बित जीवन से ही नहीं, बल्कि उन्हें सीधे जीवन से भी सीखना होगा। तभी वे वास्तव में क्रान्तिकारी युवा बन सकेंगे। ‘नौजवान आन्दोलन की दिशा’ नामक अपने प्रसिद्ध लेख में माओ त्से-तुङ ने लिखा है : “कोई नौजवान क्रान्तिकारी है अथवा नहीं, यह जानने की कसौटी क्या है? उसे कैसे पहचाना जाये? इसकी कसौटी केवल एक है, यानी यह देखना चाहिए कि वह व्यापक मज़दूर-किसान जनता के साथ एकरूप हो जाना चाहता है अथवा नहीं, तथा इस बात पर अमल करता है अथवा नहीं? क्रान्तिकारी वह है जो मज़दूरों व किसानों के साथ एकरूप हो जाना चाहता हो, और अपने अमल में मज़दूरों व किसानों के साथ एकरूप हो जाता हो, वरना वह क्रान्तिकारी नहीं है या प्रतिक्रान्तिकारी है।” निश्चित ही, किसानों से तात्पर्य आज की स्थिति में पूँजीवादी लूट-मार के शिकार छोटे किसानों से ही हो सकता है, स्वयं मेहनतकशों का शोषण करने वाले मुनाफ़ाखोर खुशहाल मालिक किसानों से नहीं।

निचोड़ यह कि सबसे पहले, क्रान्तिकारी युवाओं को समस्त सामाजिक सम्पदा के उत्पादक श्रमजीवी वर्गों के साथ एकरूप होना होगा, उनके बीच जाना होगा, सुधार की बहुविधि कार्रवाइयों के जरिए सच्चे दिल से उनकी सेवा करनी होगी, बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम के सामाजिक बँटवारे से जन्मे बुद्धिजीवियों के सभी विशेषधिकारों और श्रेष्ठ होने की मानसिकता को पूरी तरह से त्यागना होगा। तभी आम लोग उन्हें अपना समझकर उन पर भरोसा करेंगे, दिल से उनकी बातें सुनेंगे और उन पर अमल करेंगे। और क्रान्तिकारी युवा भी केवल तभी व्यावहारिक क्रान्तिकारी बन पायेंगे, सामाजिक जीवन के सभी अन्तरविरोधों को समझ पायेंगे और क्रान्तिकारी संघर्षों की तैयारी और प्रगति में कामयाब हो सकेंगे।

साथ ही, जनता का विश्वास जीतने और क्रान्ति के विज्ञान को अमली रूप में समझने के लिए यह भी अनिवार्य है कि क्रान्तिकारी नौजवान अपने आदर्शों को स्वयं अपने जीवन में लागू करते हों। मसलन, शारीरिक श्रम को नीचा करके देखने की मानसिकता से पूरी तरह मुक्त होने के साथ ही, उन्हें जातिगत भेदभाव की मानसिकता से अंधविश्वासों और धर्मान्धता से, पुरुष श्रेष्ठतावादी मानसिकता और तपाम सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़िवाद से राई-राई-रत्ती-रत्ती मुक्त होना होगा। तभी वे क्रान्ति के राह की इन सामाजिक-सांस्कृतिक बाधाओं के विरुद्ध सतत आन्दोलन चला सकेंगे और व्यापक जन-एकजुटता कायम कर सकेंगे, जो व्यवस्था-परिवर्तन के लिए जनता की

जुझारू लामबन्दी की बुनियादी शर्त है।

जिसे आम तौर पर "सुधार की कार्रवाई" कहा जाता है, उसके बारे में भी अपना नज़रिया साफ कर लेना एक क्रान्तिकारी छात्र-युवा आनंदोलन के पुनर्निर्माण के लिए बेहद जरूरी है। जनता की जीवन-स्थितियों में सुधार और इसी सामाजिक आर्थिक ढाँचे के भीतर उसे कुछ सहृलियतें दिलवा देना यदि हमारा अन्तिम लक्ष्य हो तो यह सुधारवाद होगा। इसका मतलब होगा, इस शोषक व्यवस्था को कायम रखते हुए इसके नगर अनाचारों-अत्याचारों में कुछ कमी लाना और इस व्यवस्था की उम्र लम्बी बनाना।

इसका मतलब होगा पूँजीवाद के दामन पर लगे खून के धब्बों को साफ करना। इसका मतलब होगा जनता को यह बताना कि पैबन्द माँ-माँगकर पूरी कमीज़ तैयार की जा सकती है, यानी यह बताना कि रियायतों की छोटी-छोटी लड़ाइयों और सुधारों से ज़िन्दगी जीने लायक बनाकर गुजर कर लो, क्योंकि इतना ही संभव है और क्रान्ति असम्भव या अव्यावहारिक है। इसका मतलब होगा जनता को यह भ्रम देना कि हुकूमती जमातों को समझा-बुझाकर और कुछ दबाव देकर धीरे-धीरे अपना हक़ हासिल किया जा सकता है या शान्तिपूर्ण ढंग से उनका दिल बदलकर या उन्हें कायल करके, व्यवस्था भी बदली जा सकती है, अतः बलात् परिवर्तन या क्रान्ति की "परेशानियाँ" उठाने की कोई जरूरत नहीं। वर्ग-शोषण वाले समाजों में, और विशेषकर पूँजीवादी समाज में, सुधारवाद हमेशा ही अनेकशः रूपों में मौजूद रहा है और नये-नये रूपों में सामने आता रहा है। यह जनाकोश के दबाव को कम करने वाले 'सेफ़ी वॉल्व' की, व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति की और जनता के लिए 'धोखे की टट्टी' की भूमिका निभाता रहा है। क्रान्ति-मार्ग का परित्याग-कर चुकी भारत की सभी चुनावी वामपंथी पार्टियाँ भी सुधारवाद पर ही अमल करती हैं और आजकल पूरे देश में सक्रिय एन. जी. ओ. सुधारवादी राजनीति के सबसे नये और सबसे प्रभावी उपकरण हैं।

लेकिन जो क्रान्तिकारी नौजवान पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध व्यापक जनता को एक निर्णायक क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए संगठित करना चाहते हैं, उन्हें भी क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं शिक्षा के साथ-साथ न केवल रोज़मरे की ज़िन्दगी की छोटी-छोटी माँगों को लेकर जनान्दोलन संगठित करने होंगे, बल्कि अनेकशः स्तरों पर सुधारपरक कार्रवाइयाँ भी संगठित करनी होगी। यदि क्रान्तिकारी परिवर्तन का लक्ष्य और एक सुनिश्चित कार्य-योजना हमारे पास हों तो व्यापक आबादी से एक जुटा बनाने, उसकी चेतना को जुझारू बनाने तथा उसे जागृत, गोलबन्द और संगठित करने के उद्देश्य से संगठित सुधर की कार्रवाइयाँ और अधिकारों की छोटी-छोटी लड़ाइयाँ एक लम्बे क्रान्तिकारी संघर्ष की कड़ी बन जाती हैं। ऐसे उपक्रम युवाओं को यह अवसर देते हैं कि वे आम जनता की ज़िन्दगी के निकट जायें, उससे एकरूप हो जायें और उसका विश्वास

जाँच-पड़ताल का भी अवसर मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि चीज़ों को बदलने के लिए उन्हें जानना अनिवार्य होता है।

कुछ ठोस उदाहरण लें। किसी भी व्यवस्था में शिक्षा और संस्कृति का स्वरूप और ढाँचा इस बात से तय होता है कि राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था का चरित्र क्या है और राज्यसत्ता किस वर्ग के हाथों में है। सभी वर्ग-समाजों में शासक वर्ग की शिक्षा-संस्कृति ही समाज पर हावी होती है। शिक्षा-संस्कृति के ढाँचे को निर्णायक तौर पर तभी बदला जा सकता है, जब शासन-सूत्र वास्तव में जनता के हाथों में आ जाये। लेकिन सामाजिक क्रान्ति की तैयारी के दौरान भी हम शिक्षा और संस्कृति के वैकल्पिक उपक्रम संगठित करते हैं और जनता की चेतना के क्रान्तिकारीकरण के लिए इनका इस्तेमाल करते हैं। मिसाल के तौर पर, क्रान्तिकारी छात्र और युवा संगठनों को जातिगत-सामाजिक धार्मिक रुद्धियों और अन्धविश्वास के विरुद्ध, नौजवानों के साथ-साथ व्यापक आम आबादी की भी चेतना जागृत करने के लिए अध्ययन मण्डलों, रात्रि-पाठशालाओं, पुस्तकालयों, नाट्य एवं गायन टीमों आदि-आदि का गठन करना होगा। ऐसा करके वे निश्चय ही पूँजीवादी शिक्षा और संचार-माध्यमों को बराबरी की टक्कर नहीं दे सकते, लेकिन ऐसे संगठित प्रयासों के द्वारा वे रुद्धियों और अन्धविश्वासों की दिमागी गुलामी से आम जनता और नौजवानों के जितने बढ़े हिस्से को और जिस हद तक मुक्त कर सकेंगे, उतनी हद तक क्रान्ति की कतारों में नौजवानों की भरती की सम्भावनाएँ बढ़ जायेंगी और आम जनता की पहलकदमी और सर्जनात्मकता भी निर्बन्ध होती जायेगी। मान लें कि क्रान्तिकारी युवाओं का कोई संगठन मज़दूरों की किसी बस्ती में स्वास्थ्य-शिविर आयोजित करता है तो वह जनता की सेवा करने और उनका विश्वास जीतने के साथ ही उनके बीच यह प्रचार भी करता है कि निःशुल्क स्वास्थ्य-सुविधा आम जनता का एक बुनियादी अधिकार है और यह बाज़ार में बिकने वाला माल नहीं है। यहाँ से इस बुनियादी अधिकार के लिए संघर्ष की तैयारी शुरू हो जाती है। मान लें कि ऐसा कोई युवा संगठन जन-पहलकदमी को जागृत करके किसी बस्ती या गाँव में सफाई-अभियान, सड़क मरम्मत, पुल-निर्माण जैसा कोई काम हाथ में लेता है, तो वह जनता को इस बात के लिए भी तैयार करता है कि वह सरकार और जन-प्रतिनिधियों को कठघरे में खड़ा करे तथा अपनी इन माँगों को लेकर आन्दोलन के लिए तैयार हो। ऐसे अनगिनत प्रयासों की कड़ियाँ जब जुड़ती चली जाती हैं तो जनता स्वयं अपनी संगठित शक्ति और सर्जनात्मकता से परिचित होकर आगे बढ़ती है, उसमें फैसले लेने का आत्मविश्वास पैदा होता है (जो बाद में आगे बढ़कर शासन चलाने का आत्मविश्वास बन जाता है) और इस प्रक्रिया में जगह-जगह भूषण रूप में वैकल्पिक लोक-सत्ता के प्लेटफार्म उभरने लगते हैं। नौजवानों को यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि क्रान्तिकारी परिवर्तन का संघर्ष शोषक और शोषित वर्गों के बीच का वर्ग-युद्ध है, जिसमें मात्र कुछ छिपफूट झड़पों और चलायमान युद्धों से फैसला नहीं होगा। फैसला भले ही अन्ततोगत्वा व्यापक जन विद्रोह के

तड़ित-प्रहार द्वारा पूँजीवादी राज्यसत्ता के दुर्ग को ध्वस्त करने द्वारा होगा, लेकिन उस मंजिल तक पहुँचने की प्रक्रिया कुछ ऐसी होगी मानो दो पक्ष किसी युद्ध में 'पोजीशन' बाँधकर लम्बे समय तक युद्धरत हों। इसके लिए जनांदोलनों और जनता के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार के साथ-साथ जनपहलकदमी व जनसर्जनात्मकता को जगाकर ऐसी संस्थाएँ व ऐसे उपक्रम खड़े करने होंगे, जो निर्माणाधीन "जनदुर्ग" के बुर्जों और परकोटों की भूमिका निभायें। तभी व्यापक जन समुदाय में यह भरोसा भी पैदा होगा कि एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण संभव है जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वालों का नियंत्रण होगा और फैसले की ताकत उनके हाथों में होगी।

बेशक 'सबके लिए समान शिक्षा और सबके लिए रोजगार के समान अवसर' का नारा ही क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन का केन्द्रीय नारा हो सकता है। तब पूछा जा सकता है कि इसके बजाय हमने सबसे पहले और सबसे विस्तार से इस बात की चर्चा बयां की है कि नौजवानों को व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच जाकर घुल-मिल जाना चाहिए, क्रान्तिकारी प्रचार की कार्रवाई करनी चाहिए, कुछ रचनात्मक कार्यक्रम चलाने चाहिए...आदि-आदि।

इसका एक सीधा-सा उत्तर यह दिया जा सकता है कि भगतसिंह के ऊपर उद्भूत कथन को हम आज की परिस्थिति में, जब प्रगति की लहर पर हावी प्रतिक्रिया की लहर को पीछे धकेलकर इंसानियत की रूह में हरकत पैदा करने के लिए एक नयी शुरुआत की ज़रूरत है, एकदम सटीक और प्रासारिक मानते हैं कि नौजवानों को क्रान्ति का सन्देश लेकर कल-कारखानों, गंदी वस्तियों और गाँव की जर्जर झोपड़ियों तक जाना होगा। यह नौजवानों का सर्वोपरि दायित्व है। उन्नत चेतना वाले क्रान्तिकारी युवाओं के ऊपर ही यह जिम्मेदारी है कि वे मेहनतकश जनता के संघर्षों को क्रान्ति के विज्ञान से लैस करें और ऐसा वे तभी कर सकते हैं, जब जनता के बीच जाकर वे आन्दोलनात्मक और रचनात्मक कार्यों में भागीदारी करें, उसके जीवन से एकरूप हो जायें तथा स्वयं जीवन एवं क्रान्ति की व्यावहारिक शिक्षा लेते हुए अपना व्यक्तित्वांतरण करें।

शिक्षा और रोजगार के प्रश्न पर नौजवानों का संघर्ष समाज के अन्य संघर्षों से अलग-थलग नहीं, बल्कि अविभाज्यतः जुड़ा हुआ है। राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से देखें तो बेरोजगारी एक ऐसी परिघटना है, जो पूँजीवादी व्यवस्था में अनिवार्यतः मौजूद रहती है और व्यवस्था का संकट बढ़ने के साथ ही स्वयं एक गम्भीर लाइलाज संकट बन जाती है। इसी तरह औकात के हिसाब से बँटी हुई असमान शिक्षा और बाजार में बिकाऊ माल जैसी उसकी स्थिति भी बस्तुतः पूँजीवाद की एक बुनियादी अभिलाक्षणिकता है। यानी सबके लिए समान शिक्षा और रोजगार के समान अवसर के लिए संघर्ष पूँजीवाद की एक आम बुनियादी प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष है। यह संघर्ष

पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष है और आम जनता के सभी वर्गों के पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष से जुड़कर, उसका अंग बनकर ही, यह सार्थक और सफल हो सकता है। अन्यथा सुधारवाद की अन्धी, चक्करदार गलियों में गुम हो जाना इसकी नियति होगी।

इसलिए 'सबके लिए समान शिक्षा और सबको रोजगार के समान अवसर' के लिए छात्रों-युवाओं की व्यापक आबादी को संगठित करने के साथ ही यह काम भी क्रान्तिकारी युवाओं की अगुवा कृतारों का ही है कि वे पूँजी द्वारा सड़कों पर धकेले जाने वाली और दर-बदर की जाने वाली और उजरी गुलामी की चक्की में दिन-रात पिस रही मेहनतकश जनसमुदाय तक जायें, उसके संघर्षों में भागीदारी करें, अपना वर्ग-रूपान्तरण करके संघर्ष की प्रारम्भिक अवस्थाओं में उसके हरावल की भूमिका निभायें, उन्हें क्रान्ति के विज्ञान से परिचित करायें और फिर उनके बीच से क्रान्ति के हरावल दस्ते पैदा करने में भूमिका निभायें। साथ ही, यह भी उन्हीं का दायित्व है कि वे शिक्षा और रोजगार के सवाल को लेकर उद्देशित और आन्दोलित व्यापक छात्र-युवा आबादी को यह बतायें कि अपने संघर्ष को व्यापक मेहनतकश आबादी के पूँजीवाद-साप्राज्यवादी संघर्ष से जोड़ बिना वे कुछ राहतें-रियायतें भले ही हासिल कर लें, लेकिन अपने मक्सद में कामयाब कर्त्ता नहीं हो सकते। इसलिए उन्हें न केवल आम आबादी के क्रान्तिकारी संघर्ष से जुड़ना होगा, बल्कि उसे नये पिरो से संगठित करने और आगे बढ़ाने में भी अपनी भूमिका निभानी होगी। एक नयी शुरुआत तभी हो सकेगी जब छात्र-युवा आन्दोलन आम जनता के सभी वर्गों के संघर्षों के लिए एक क्रान्तिकारी भरती-केन्द्र बन जाये। क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन का यह पहलू आज उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है।

सोचने की बात है कि छात्रों और नौजवानों के लगभग सभी संगठन समान शिक्षा और सबको रोजगार के अधिकार को लेकर लड़ने की बातें करते हैं, फिर इन माँगों पर कोई छात्र-युवा आन्दोलन संगठित क्यों नहीं हो पाता? इन नारों का जुबानी जमा खर्च करने वाले अधिकांश छात्र संगठन इस या उस पूँजीवादी चुनावी पार्टी के पुछल्ले हैं। वे छात्र आबादी को भरमाने के लिए ऐसे नारे उछालते हैं। अपनी साख बचाने के लिए कभी-कभार वे कुछ आन्दोलनों की रस्मी कावायद करते हैं और कभी-कभार यदि कुछ रियायतें हासिल भी हो जायें तो वह किसी पार्टी-विशेष या उस समय सत्तारूढ़ सरकार की साख बढ़ाने के काम आता है। ऐसे छात्र-युवा संगठन आन्दोलन को व्यापक मेहनतकश जनता के संघर्ष की कड़ी बना ही नहीं सकते। यह उनका मक्सद ही नहीं होता। उनका एकमात्र मक्सद होता है, छात्र-युवा आबादी को क्रान्तिकारी लक्ष्य से दूर करना, गैरमुद्दों पर भड़काकर बुनियादी मुद्दों से उनका ध्यान हटाना, उन्हें क्षेत्र, जाति, धर्म, भाषा आदि के आधार पर बाँट देना और छात्र-युवा आन्दोलन को पूँजीवादी चुनावी राजनीति के नये रंगरूटों की भरती एवं प्रशिक्षण केन्द्र बनाये रखना। संसद में बहसबाजी करने वाली नकली वामपंथी पार्टियों के पुछल्ले छात्र-युवा संगठन भी मूलतः यही खेल खेलते हैं,

(पेज 43 पर जारी)

मुद्राखोरों के हाथ में आपकी जान

● लता

हाल ही में गुड़गाँव में एक करोड़ की नकली दवाएं बरामद हुई हैं। यह खबर पढ़कर आपके दिल में गुस्सा और खौफ देनों ही घर कर गया होगा। एक ओर आपको इस बात पर गुस्सा आ रहा होगा कि वे कैसे लोग हैं जिनके लिए इंसानी जान की कीमत चंद सिक्के हैं, वहीं आपको यह डर भी होगा कि उन नकली दवाओं का शिकार आप या आपका परिवार न हो जाए।

आपका गुस्सा और डर दोनों ही बाजिब है। मगर यह कई गुना और बढ़ जाएगा अगर आपको इन दवाओं के पूरे व्यापार और इस व्यापार में मुनाफे के लिए चल रही साजिशों और तोड़-फोड़ के बारे में पता चल जाए। गुड़गाँव में पकड़े गए नकली दवाओं के निर्माता और ऐसे तमाम लोग दवाओं के व्यापार की दुनिया के मामूली प्यादे हैं। ये ज्यादा से ज्यादा एक छोटे से इलाके को प्रभावित कर सकते हैं। बजीर और बादशाह तो वे नामी-गिरामी दवा कम्पनियाँ हैं जिनके भावुक विज्ञापन आपके दिलों को छू जाते हैं। आप दवा खरीदते समय इन नामों को पढ़कर संतुष्ट हो जाते हैं और समझते हैं कि इतनी बड़ी कम्पनियों की दवाओं के केमिकल कम्पोजिशन तो दुरुस्त ही होंगे। लेकिन क्या आपने कभी यह सोचा है कि आप जिस बीमारी के लिए वह दवा खरीद रहे हैं वह वाकई उसी बीमारी की दवा है?

जी हाँ, चौंकिए मत! ये दवा कम्पनियाँ बाजार में महँगी दवाओं को बेचने के लिए कई किस्म के हथकण्डे अपनाती हैं। मिसाल के तौर पर दवाओं की जानकारी देने वाली पत्र-पत्रिकाएँ, शोधकर्ता और शोधकर्ताओं के दस्तावेज। खास तौर पर, इस पूरे प्रपञ्च में इन पत्र-पत्रिकाओं की महती भूमिका होती है।

डॉक्टरों तक पहुंचने वाली इन पत्र-पत्रिकाओं का ध्येय ज्ञानवर्धन करना नहीं बल्कि उन्हें गुमराह करना होता है। अब सवाल यह उठता है कि आखिर इन पत्र-पत्रिकाओं में होता क्या है और दवा कम्पनियों का इससे क्या सरोकार होता है?

इन पत्र-पत्रिकाओं में शोधकर्ताओं के शोध छपे होते हैं। सम्पादक इन शोधकार्यों को पुनःप्रकाशित करते हैं। इन पुनःप्रकाशनों में दवा विशेष के बारे में मूल सम्पादक के नाम से वे रायें छपी होती हैं जिनके बारे में वे सपने में भी नहीं सोच सकते। इन पर असली सम्पादक के नाम होते हैं। नतीजतन डॉक्टर आश्वस्त होकर इन दवाओं का सुझाव मरीजों को देते हैं। मगर ये दवाएँ अक्सर उन रोगों की होती ही नहीं हैं। कई

पत्रिकाएँ अपनी पूरी दुकानदारी ही इस तरह के पुनःप्रकाशनों पर चला रही हैं। ये पुनःप्रकाशन अपने पूरे हरबे-हथियार, यानी सम्पादक, शोधकर्ता और पत्रिका के नाम के साथ बाजार में उतरती हैं और दवा कम्पनियाँ इनकी कई प्रतियाँ महँगे दामों में खरीदती हैं।

अक्सर ये दस्तावेज सच्चे नहीं होते। क्योंकि ये दस्तावेज और शोधकार्य भी इसी साजिश का एक हिस्सा होते हैं। किसी भी शोधकार्य का स्वरूप वह कम्पनी या सम्पादक तथ करता है जिसने इस शोध को हर प्रकार से सहायता पहुंचाई है। इन दस्तावेजों में उनके हस्तक्षेप होते हैं, क्योंकि वे अपने मुनाफे की लाठी किसी भी सूत में हिलने नहीं देते। अतः वही लिखा और छापा जाता है जिसे मुनाफे में तब्दील किया जा सकता हो। इस तरह शुरू होता है शोधकर्ता, मूल सम्पादक और प्रायोजकों के बीच का टकराव, जिसमें बताने की ज़रूरत नहीं कि जीत हमेशा प्रायोजकों की ही होती है।

इन शोधकर्ताओं के कंधों पर जिन्दगी की बचाने और समाज के सामान्य रूप से अच्छे स्वास्थ्य की जिम्मेदारी होती है। तो फिर वे ऐसे शोधकार्य क्यों अपने हाथों में लेते हैं जिनका उद्देश्य दवा कम्पनियों का मुनाफा हो, या इन दवा कम्पनियों को अपने शोधकार्य क्यों सौंप देते हैं? जबाब साफ ह—इन शोध कर्ताओं को पैसा चाहिए, फण्ड चाहिए। वे ऐसे ही शोध में हाथ लगाएंगे जिसमें मुनाफे की गुंजाइश हो, क्योंकि कोई भी कम्पनी उसे तभी प्रायोजित करेगी। और इस तरह ये कम्पनियाँ इन शोधों और उनके परिणामों पर पूरा हक रखती हैं। फण्ड लेने के कारण शोधकर्ता कम्पनियों के हाथ की कठपुतली बन जाता है।

डॉक्टर इन पत्र-पत्रिकाओं को स्वतंत्र मानकर इन पर निर्भर होते हैं। मगर सच यह है कि वे भ्रष्ट होती हैं। चंद पिक्कों के लिए ये करोड़ों जिन्दगियों के साथ खिलवाड़ करती हैं और जमीर को ताखे पर रखकर प्रायोजकों के पीछे दुम हिलाते घूमती हैं।

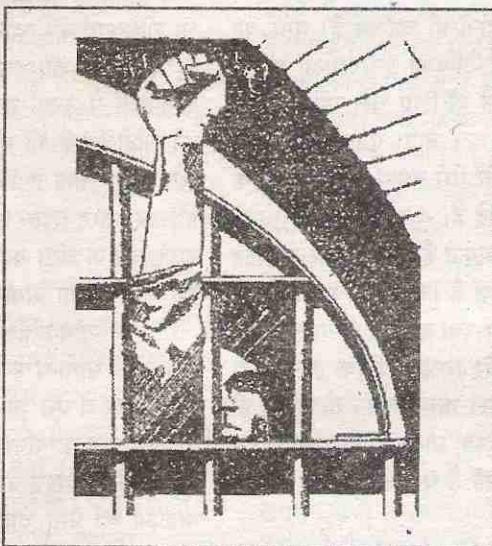
इस तरह चाहे सम्पादक का हो, या शोधकर्ता का हो या फिर कम्पनियों का हो, मुनाफा ही इस सारे प्रपञ्च का रचयिता बन जाता है और पूँजीवादी समाज के हर क्षेत्र की तरह यहाँ भी मुनाफे की इमारत करोड़ों आम इंसानों की लाशों पर खड़ी होती है। लेकिन इंसानी जिन्दगी और सेहत के मामले में इस तरह पैसों के पीछे कुछ भी कर डालने का उन्माद विशेष रूप से घृणित और जुगूप्सित है।

यू. पी. ए. सरकार हुआ पोटा के स्थान परं नया आतंकवाद-विरोधी अध्यादेश लाने का एलान लुटेरों की नयी मैनेजिंग कमटी भी जनरावित से भयाकान्त

● प्रसेन

तमाम धर्मनिरपेक्ष और जनवादी बुद्धिजीवियों में उस समय खुशी की लहर दौड़ गयी थी जब इस बार के लोकसभा चुनाव के बाद कांग्रेस के नेतृत्व में वामपंथी दलों और तमाम क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टियों के संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) सरकार का गठन हुआ। इसमें से अधिकांश ऐसे थे जो कांग्रेस और संसदीय वामपंथी दलों को फरिश्तों की पार्टी नहीं मानते हैं। लेकिन उनका तर्क

था कि फिलहाल साम्प्रदायिक फासीवादी खतरे को टालने के लिए 'कम शैतान' (लेसर इविल) का चुनाव करने में ही बेहतरी है। इन लोगों को खास खुशी तब हुई जब पोटा रद्द हुआ। लेकिन इसकी खुशी के नशे में वे ऐसा चूर हुए कि संप्रग सरकार को गुपचुप तरीके से अपने इरादे जाहिर करने का मौका मिल गया। अभी संप्रग सरकार का गठन हुए आधा साल भी पूरा नहीं हुआ था कि "आतंकवाद" का मुकाबला करने के लिए रणनीति बनाने के बहाने से पोटा की खाली जगह भरने वाला कानून लाने की घोषणा कर दी गई। सितम्बर में सरकार ने



लाकर गैर कानूनी गतिविधि निरोधक कानून 1967 में संशोधन करेगी। प्रस्तावित संशोधन में 'आतंकवाद' शब्द को पुनः परिभाषित और विस्तारित किया जाएगा और राष्ट्रविरोधी (?) गतिविधियों में शामिल लोगों को मौत तक की सजा देने का प्रावधान किये जाने की घोषणा की गयी थी। नतीजतन, सरकार ने अगले ही महीने गैरकानूनी गतिविधियों निरोधक (संशोधन) विधेयक, 2004 को पारित कर दिया। गैरतलब है कि इस नए अध्यादेश में पोटा के कई प्रावधानों को शामिल

किया गया है। इतिहास गवाह है कि राष्ट्र की सुरक्षा के नाम पर आज तक जितने कानून आए हैं वे अपने पूर्वजों से ज्यादा दमनकारी रहे हैं। पूँजीवादी व्यवस्था जैसे-जैसे अपने सभी "कल्याणकारी" मुखैयों को उतार रही है वैसे-वैसे उसे जनविद्रोह से निपटने के लिए अपने आपको अधिक से अधिक चाक-चौबन्द करने की जरूरत महसूस हो रही है। जात हो कि पूर्ववर्ती

कानून टाडा में गिरफ्तार 76000 लोगों में से सिर्फ । प्रतिशत सजा पाने योग्य पाए गए। मार टाडा के खत्म होने के बाद भी हजारों लोग जेलों में सड़ रहे हैं। कुछ ऐसी ही कहानी पोटा की भी रही। कर्मीर में पोटा सबसे पहले लागू हुआ। पी. डी. पी. की सरकार ने आते ही इसे हटाने का ढोंग रचा। मगर दो साल बीत जाने के बाद भी पोटा के तहत बन्द लोगों को रिहाई नहीं मिली। जो रिहा हुए वे संसदीय लुटेरों की जमात के लोग ही थे। बाकी रिहा लोगों को 'जनसुरक्षा अधिनियम' के तहत दोबारा गिरफ्तार कर लिया गया। नए सूचना प्रसारण मंत्री जयपाल रेडी ने साफ किया है कि पोटा के तहत चल रहे मुकदमे अपने आप रद्द

नहीं होंगे और जिनको पोटा के तहत सजा मुकर्रा हो चुकी है वह कायम रहेगी। साफ है कि पोटा को हटाना एक ढोंग है। पोटा हट जाएगा तो कोई नया सोटा शोषकों के हाथ में आ जाएगा। इस भ्रम से सभी जनपक्षधर शक्तियों को मुक्त हो जाना चाहिए कि संसदीय नामधारी वामपंथीयों के होने की वजह से, या किसी भी और वजह से संयुक्त प्रगतिशील (?) गठबंधन सरकार राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार से कम दमनकारी होगी। उल्ट कोई वजह नहीं दिखती कि ऐसा न हो।

प्रिय सम्पादक महोदय,

प्रथम बार मैंने आह्वान पढ़ा तो लगा कि हम कितने स्वार्थगत भावनाओं से ग्रस्त हैं, हमें सिर्फ अपने स्वाथों की संकीर्ण चिन्ता रहती है। इन्हीं संकीर्णताओं की वजह से देश का गजनीतिक जीवन अंधकारमय होता जा रहा है। ऐसे में आह्वान एक सूर्य की तरह दिखता है। चन्दन का आत्मराह, उत्तरांचल में फूटे छात्र आन्दोलन पढ़कर पता चला कि सबकुछ शांत नहीं है। हमें अपने प्रयास जारी रखने होंगे ताकि आने वाली पीढ़ियाँ एक शोषणमुक्त स्वच्छ वातावरण में साँस ले सकें।

दीपेन्द्र प्रताप सिंह, 79, हिन्दू छात्रावास

पाठक मंच

(पेज 4 से जारी)

करने की जो मुहिम आप चला रहे हैं मैं उससे प्रभावित हूँ और उससे जुड़ना चाहता हूँ। मैं अपने कुछ साथियों के साथ मिलकर एक संगठन बना कर समाज-सेवा के लिए कुछ काम कर रहा हूँ। अगर जयपुर में आपके संगठन की कोई शाखा कार्यरत हो तो मुझे सूचित करें।

अनुराग सिंह खंगारीत, बी-80/7, नित्यानन्दनगर,

गांधी पथ, क्वीन्स रोड, जयपुर - 302021

बेरोजगारी का असली पैमाना

बेरोजगारी महज एक मानवीय समस्या नहीं है जिसका सामना बेरोजगारों को करना पड़ता है। यह मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की उत्पादन बढ़ाने के लिए समस्त उपलब्ध संसाधनों का उपयोग कर पाने की अक्षमता को अभिव्यक्त करता है। जाहिर है कि उत्पादन को दो अन्य उपादानों, भूमि और पूँजी से अलग, जो निक्षिय होते हैं, श्रम पूँजी को पैदा करने में सक्षम है। अगर समाज उत्पादन को उच्चतम बिन्दु पर ले जाना चाहता है तो वह उत्पादन के किसी भी साधन को व्यर्थ नहीं जाने दे सकता है : श्रम समेत उत्पादन के इन उपादानों को सामाजिक रूप से कुशल और पूर्ण उपयोग में लगाया जाना चाहिए।

1929 की महामंदी तक पूँजीवादी अर्थशास्त्री बेरोजगारी के सवाल में ज्यादा दिलचस्पी नहीं लेते थे। उनकी सैद्धांतिक रूपरेखा यह मानती थी कि किसी भी माल की अतिशय आपूर्ति का एकमात्र कारण यह है कि इसकी कीमत को बाजार-सफाई स्तर तक नहीं गिरने दिया जा रहा है, यानी उस स्तर तक नहीं गिरने दिया जा रहा है जिस कीमत पर पूरा माल खरीद लिया जाएगा। इस तरह बेरोजगारी को मज़दूरी के पर्याप्त नीचे नहीं गिरने का नतीजा बताया जा रहा था। और ऐसा होने का कारण थीं ट्रेड यूनियनें। अगर मज़दूरी को पर्याप्त नीचे गिरने दिया जाता तो ज्यादा मज़दूरों को काम पर रखना पूँजीपतियों को लाभदायी लगता और ऐसा वे स्वतःस्फूर्त ढंग से तब तक करते रहते जब तक पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती।

लेकिन महामंदी ने, जो 1929 में शुरू हुई, इस विचार-पद्धति को काफ़ी चोट पहुँचायी। उत्पादन को घटा दिया गया, निवेश की धारा सूख गयी, मज़दूरों की छँटनी कर दी गई, और मज़दूरी भी घट गई। लेकिन घटी हुई मज़दूरी पर भी पूँजीपतियों ने काम पर मज़दूरों को रखना नहीं शुरू किया। उल्टे उत्पादन को और भी घटा दिया गया।

बेरोजगारी उन समस्याओं में केंद्रीय थी जिनपर जे.एम. कीन्स ने ध्यान दिया, हालाँकि उन्होंने इस पर पूँजीवादी समाज के सीमित ढाँचे के भीतर रहकर ही ध्यान दिया। कीन्स ने बताया कि पूँजीपति तब तक मज़दूरों को काम पर नहीं रखेंगे जब तक माँग अनुपयुक्त है। भले ही श्रम ही नहीं भूमि और पूँजी तक बेकार पड़ी रहे, क्योंकि अर्थव्यवस्था में माँग की कमी है। कीन्स ने तर्क दिया कि ऐसी परिस्थितियों में राज्य के लिए यह जरूरी होता है कि वह निवेश करके माँग को बढ़ावा दे। हालाँकि कीन्स पूरी तरह एक व्यवस्था समर्थक अर्थशास्त्री था, जिसका सरोकार पूँजीवादी व्यवस्था के टिके रहने और

स्थिरीकरण से था, मगर उसका योगदान यह रहा कि उसने इस श्रम का सफाया कर दिया कि आर्थिक व्यवस्था स्थिर है, या यह स्वतःस्फूर्त ढंग से पूर्ण रोजगार प्राप्त कर लेगी।

पिछले तीन दशकों में, कीन्स-पूर्वीय सैद्धांतिक ढाँचे ने व्यवस्था के दुकड़ों पर पलने वाले अकादमीशियनों के बीच फिर से प्रभुत्व हासिल कर लिया है। दुनिया भर में इसे शासकों द्वारा धार्मिक सत्य के समान बढ़ावा दिया जा रहा है। इसे सिर्फ औद्योगिकृत देशों में ही नहीं, बल्कि भारत जैसे देशों में भी लागू किया जा रहा है जहाँ बड़े पैमाने पर बेरोजगारी/अर्धबेरोजगारी का राज है। ऐसी स्थितियों में, सामाजिक सुरक्षा और मज़दूर संगठनों के अभाव में, श्रम शक्ति की “बाज़ार सफाया” कीमत जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक स्तर से भी नीचे गिर सकती है।

नई आर्थिक नीतियों की शुरुआत के करीब 13 साल बीत चुके हैं, जिनका एक पहलू संगठित श्रम पर प्रहार रहा है। व्यवहार में न तो अब स्थायी प्रकृति वाली नौकरियों के लिए ठेका मज़दूरों के इस्तेमाल पर कोई अंकुश है, न ही इकाइयों की छँटनी/बंदी पर कोई लगाम है। स्थायी मज़दूरों की जगह तनखाह के एक हिस्से भर पर काम करने वाले ठेका मज़दूर ले रहे हैं। यह बात उत्पादन की लागत में मज़दूरी के घटते हिस्से, और कुल लागत में ठेका मज़दूरी के बढ़ते हिस्से में साफ झलकती है। दिसम्बर 2003 का सेंटर फॉर मॉनीटरिंग इण्डियन इकॉनोमी(CMIE) का अध्ययन बतलाता है कि, एक तरफ जहाँ भारतीय कम्पनियों की कुल लागत में मज़दूरी का हिस्सा 1991-92 के 6.1 फीसदी से घटकर 2002-03 में 4.4 फीसदी हो गया, वहीं दूसरी ओर तैयार मालों की खरीद का हिस्सा(कई मामलों में दूसरी इकाइयों को ठेके पर काम देने के कारण) इसी समय के दौरान 13 फीसदी से बढ़कर 20 फीसदी हो गया।

भारत में सरकारी रोजगार सूचनाओं पर विचार करते समय हमें यह बात दिमाग में रखने जरूरत है कि कोई व्यक्ति रोजगार-प्राप्त माना जाएगा अगर वह अध्ययन के काल के दौरान “लाभकारी गतिविधियों” में लगा हुआ है। अपना घरेलू काम या अपराध करने के अतिरिक्त, ऐसी सूचनाओं में कमोबेश हर चीज लाभकारी गतिविधि मान ली जाती है। इस परिभाषा का इस बात से कोई सरोकार नहीं होता है कि वह व्यक्ति अपनी उस गतिविधि से अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने लायक कमा पाता है या नहीं। एक मूँगफली बेचने वाला इतना नहीं भी बेच सकता कि दोनों वक्त रोटी खा

सके। एक घरेलू मजदूर दिन भर बीड़ियां बनाकर दस या पंद्रह रुपये ही कमा सकता है; एक परिधिगत(दरिद्र) किसान न सिर्फ खेती के लिए बल्कि अपने उपभोग के लिए भी कर्ज लेने के लिए मजबूर हो सकता है। फिर भी महज यह बात कि वह सम्बन्धित कालखण्ड के अधिकांश हिस्से में वह “लाभकारी गतिविधियों” में लगा रहा, यह दर्ज कर लेने के लिए काफी है कि उसे रोजगार हासिल है।

यह हमें अजीबो-गरीब नतीजों पर ले जाता है। सामान्य बोध से देखा जाए तो, नौकरी जीविकोपार्जन उपलब्ध कराती है, और इसलिए किसी भी नौकरीशुदा व्यक्ति को ‘गरीब’ नहीं होना चाहिए। अगर यह जीविकोपार्जन उपलब्ध नहीं कराती तो इसे रोजगार कहना मुश्किल है। अतः अगर जनसंख्या का 26 फीसदी 1999-2000 में गरीब था (योजना आयोग द्वारा दी गयी गरीबी की मजाकिया तौर पर नीची कसौटी के अनुसार), तो कोई भी श्रम शक्ति के समान हिस्से के बेरोजगार होने का अनुमान लगाएगा। मगर योजना आयोग मानता है कि इस वर्ष के दौरान सिर्फ 7.3 फीसदी श्रम शक्ति बेरोजगार थी। जाहिर है कि सरकारी सूचनाओं पर चला जाए तो कोई रोजगारशुदा और साथ ही आधिकारिक तौर पर गरीब, अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में अक्षम हो सकता है। इससे हमें उस गुण के विचार का अंदाजा चल जाता है जिसे आधिकारिक सूचनाओं में रोजगार कहते हैं।

भारत जैसे देशों में लोग बिना इस बात की परवाह किए कि मज़दूरी कितनी कम है कोई भी काम ले लेते हैं क्योंकि कोई विकल्प मौजूद नहीं है: जिन्हें नौकरी नहीं मिल पाती उनके लिए कोई बेरोजगारी बीमा नहीं है। जितने लोगों को ‘रोजगारशुदा’ माना जाता है उनमें से सिर्फ आठ फीसदी के पास संगठित क्षेत्र में नौकरियाँ हैं; बाकी असंगठित क्षेत्र में हैं जहां न्यूनतम मजदूरी आम तौर पर नहीं मिलती।

इस प्रकार भारत में रोजगार-सम्बन्धी आँकड़ों की व्याख्या उस तरह नहीं की जा सकती जिस प्रकार औद्योगिकृत देशों में होती है।

फिर भी चलिए, देखते हैं कि सरकारी आँकड़े हमें क्या बताते हैं।

रोजगार वृद्धि दर का तेजी से धीमा होना।

जैसा कि सभी जानते हैं, 1991 से संगठित क्षेत्र में रोजगार में मामूली वृद्धि हुई है, जिससे 1991-2001 के पूरे दशक में चार फीसदी बढ़ोत्तरी हुई है। और तो और, 1991 से 2001 के बीच यह

हर साल गिरा है। यह गिरावट लगातार जारी है : योजना आयोग के एक सदस्य के अनुसार, कारपोरेट सेक्टर ने अकेले 2003 में ही 10 लाख नौकरियां कम की हैं (एस. पी. गुप्ता, बिजनेस

तालिका १ : संगठित क्षेत्र रोजगार में प्रति वर्ष वृद्धि (१० लाख रोजगार)

1981-82	0.93
1982-83	0.33
1983-84	0.44
1984-85	0.43
1985-86	0.04
1986-87	0.58
1987-88	0.08
1988-89	0.25
1989-90	0.39
1990-91	0.39
1991-92	0.32
1992-93	0.12
1993-94	0.20
1994-95	0.15
1995-96	0.41
1996-97	0.31
1997-98	-0.08
1998-99	-0.06
1999-00	-0.15
2000-01	-0.17

तालिका २: रोजगार और बेरोजगारी

	10 लाख व्यक्ति		वर्ष	प्रति वर्ष वृद्धि(%)	
	1983	1993-94	1999-2000	1983 से 1993-94 से	1993-94 से 1999-2000
जनसंख्या	718.2	894.0	1004.0	2.00	1.95
श्रम शक्ति	261.3	336.0	363.3	2.43	1.31
कार्य शक्ति	239.6	315.8	336.8	2.70	1.07
बेरोजगारी दर(%)	(8.30)	(5.99)	(7.32)		
बेरोजगारों की					
संख्या	218	201	266	-0.08	4.74
	लाख	लाख	लाख		

-योजना आयोग ; राष्ट्रीय ड्रॉप्पल सर्वे, मौजूदा रोजाना आधार पर आर्थिक सर्वेक्षण 2002-03.

तालिका ३ : रोजगार, प्रति वर्ष रोजगार वृद्धि, और रोजगार लोच

रोजगार (10 लाख में)	रोजगार वृद्धि 1993-94 से 1999-2000 (% प्र.व.)	बेरोजगारी दर 1999- 2000 (%)	रोजगार लोच 1993-94 से 1999-2000 (%)	स.घ.उ. वृद्धि प्रति वर्ष 1993-94 से 1999-2000
336.73	1.07	7.32	5.99	0.16
				6.7

स्टैण्डर्ड, 20/01/04, में उद्धृत।

लेकिन भारत में कुल रोजगार में संगठित क्षेत्र का हमेशा से ही छोटा हिस्सा रहा है। रोजगार और बेरोजगारी पर और व्यापक आधिकारिक आँकड़ों के लिए हमें 1983, 1993-94 और 1999-2000 के 'नेशनल सैम्पल सर्वे' चक्रों की तरफ मुड़ना होगा।

इन आँकड़ों के अनुसार, बेरोजगारी दर 1983 में 8.3 फीसदी थी; 1993-94 में यह गिरकर 6 फीसदी हुई; और 1999-2000 में यह फिर बढ़कर 7.3 फीसदी हो गई।

यह बताता है कि 90 के दशक के उत्तरार्द्ध में नई आर्थिक नीतियों के दौर में बेरोजगारी की स्थिति और बिगड़ी। रोजगार वृद्धि दर में एक तीखी गिरावट हुई—1983 से 1993-94 के दौरान 2.7 प्रतिशत से 1993-94 से 1999-2000 के दौरान 1.1 प्रतिशत। नई नौकरियों की संख्या पहले के 76 लाख प्रति वर्ष से गिरकर 35 लाख प्रति वर्ष हो गई।

"निराश मजदूरों" की तादाद में तेज बढ़ोत्तरी बेरोजगारी की स्थिति पर पर्दा डाल देती है।

मगर असल में यह आँकड़े समस्या की असल हद को छुपा देते हैं। पहली जात, सरकारी परिभाषाओं की थोड़ी व्याख्या की ज़रूरत है। "श्रम शक्ति" रोजगारशुदा व्यक्तियों या सक्रिय रूप से रोजगार की तलाश करते व्यक्तियों की संख्या है। "कार्य शक्ति" का तात्पर्य सिर्फ वास्तव में रोजगारशुदा लोगों की संख्या से होता है। "बेरोजगारों" की संख्या श्रमशक्ति और कार्यशक्ति के बीच का अन्तर होता है। "बेरोजगारी की दर" श्रम शक्ति के प्रतिशत के तौर पर बोरोजगारों की संख्या होती है।

"श्रम शक्ति"—यानी रोजगार-प्राप्त और काम कर सक्रिय रूप से तलाश करते लोगों की संख्या।

ऋण "कार्यशक्ति"—यानी रोजगार प्राप्त लोग = "बेरोजगार"।

"बेरोजगार" भाग(/) "श्रम शक्ति" = "बेरोजगारी की दर"।

जाहिर है कि, रोजगार शुदा लोगों की कोई भी दी गई

संख्या है, तो अगर आप किसी तरह काम की तलाश कर रहे लोगों की संख्या को स्थिर बनाए रखें, तो आपको आधिकारिक तौर पर बेरोजगार लोगों की एक छोटी संख्या मिलेगी, और बेरोजगारों की दर नीचे गिरेगी। मिसाल के तौर पर,

अगर आपकी श्रमशक्ति 100 है, और कार्यशक्ति 80, तो बेरोजगारों की तादाद हुई 20 और बेरोजगारी की दर 20 फीसदी। लेकिन अगर बिना नौकरियों की संख्या बढ़ाए, आप किसी तरह श्रमशक्ति के आधिकारिक आँकड़े को घटाकर 90 कर दें तो केवल 10 लोग बेरोजगार माने जाएंगे और बेरोजगारी की दर होगी मात्र 11.1 फीसदी(10/90)।

कमोबेश यही कारणजारी 1990 के दशक में हुई है। काई भी उम्मीद करेगा कि श्रमशक्ति की वृद्धि दर काम करने योग्य आयु(यानी 15 से 59) के लोगों की संख्या की वृद्धि दर से ज्यादा आगे-पीछे नहीं होगी। 1983 और 1993-94 के बीच, काम करने योग्य आयु की जनसंख्या प्रति वर्ष तीन प्रतिशत की रफ्तार से बढ़ रही थी जबकि श्रम शक्ति 2.43 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफ्तार से बढ़ रही थी। दोनों दरें थोड़ी अलग थीं, मगर ज्यादा फर्क भी नहीं था। मगर 1993-94 से 1999-2000 के बीच यह स्थिति नाटकीय रूप से बदल गई। जहां काम योग्य आयु वालों की आबादी 2.8 फीसदी प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही थी, वहीं श्रम शक्ति सिर्फ 1.31 फीसदी प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही थी। दोनों दरों के बीच की खाई अब काफी गहरी थी। मतलब यह कि सरकार हमें यह यकीन दिला रही है कि नौकरी बाजार में नवागंतुकों की संख्या पिछले काल के 75 लाख से घटकर 46 लाख प्रति वर्ष हो गई।

काम की तलाश कर रहे लोगों की संख्या में आई इस अचानक गिरावट की वजह क्या थी जब कि काम योग्य आयु वालों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी? स्कूलों में बच्चों के पहले से बढ़े पैमाने पर दाखिले बेशक श्रमशक्ति के आकार को छोटा करेंगे, लेकिन यह लापता मजदूरों के एक छोटे से हिस्से की ही वजह बता सकते हैं। इस गिरावट के पीछे मुख्य वजह यह थी कि नौकरियों के उपलब्ध न होने के कारण काफी मजदूरों ने नौकरी की तलाश करना ही छोड़ दिया। वे उस जमात में शामिल हो गए जिसे "निराश मजदूर" कहा जाता है।

आइए देखें कि अगर दूसरे कालखण्ड में श्रम शक्ति उसी दर से बढ़ती तो बेरोजगारी की दर कितनी होगी। उस स्थिति में 1999-2000 तक 36.3 करोड़ पहुंचने की बजाय श्रम शक्ति 38.8 करोड़ हो जाएगी। तब बेरोजगारों की संख्या 2.66 करोड़ नहीं होगी जैसा कि योजना आयोग कहता है, बल्कि 5.

1 करोड़ होगी; और बेरोजगारी की दर 7.3 प्रतिशत नहीं, बल्कि 13.2 प्रतिशत होगी। यानी लगभग दूनी।

रोजगार लोच में भारी गिरावट बेरोजगारी में तेज वृद्धि की पूर्वसूचना देती है।

योजना आयोग ने तीनों सर्वेक्षणों के बीच के कालखण्डों के लिए वृद्धि की रोजगार लोच की भी गणना की है। “रोजगार लोच” सकल घरेलू उत्पाद में प्रत्येक बिंदु प्रतिशत वृद्धि के साथ रोजगार में भी एक प्रतिशत वृद्धि के बरबस रोजगार में हुई प्रतिशत वृद्धि को कहते हैं। यानी यदि सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में हुई एक प्रतिशत वृद्धि हो तो रोजगार लोच होगी 1। अगर GDP में हुई 1 प्रतिशत वृद्धि के साथ रोजगार में 0.1 प्रतिशत वृद्धि हुई तो रोजगार लोच 0.1 प्रतिशत हुई। यह आँकड़ा हमें बताता है कि हो रहा विकास किस हद तक नौकरियाँ पैदा करने वाला है।

पहले दौर (1983 से 1993-94) में रोजगार लोच 0.52 प्रतिशत थी : यानी GDP 5.2 प्रतिशत की सालाना रफ्तार से बढ़ रहा था, और रोजगार उसकी आधी रफ्तार से। लेकिन दूसरे दौर (1993-94 से 1999-2000) में रोजगार लोच भारी गिरावट के साथ 0.16 पर पहुँच गयी : यानी, हालांकि GDP पहले से तेज रफ्तार यानी 6.7 प्रतिशत की दर से बढ़ा, लेकिन रोजगार वृद्धि में तेज गिरावट हुई, जो अब GDP से छह गुना कम रफ्तार से बढ़ रही थी।

अब योजना आयोग दावा करता है कि श्रम शक्ति महज 1.31 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही है। फिलहाल बिना इस आँकड़े पर सबाल उठाए हम इस आश्चर्यजनक नतीजे पर पहुँचते हैं कि श्रम शक्ति की इस मामूली सी बढ़ोत्तरी को समेटने के लिए GDP को 8.2 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफ्तार से बढ़ने की जरूरत होगी। इसी वजह से सरकार हमेशा आने वाले वर्षों में आठ प्रतिशत की वृद्धि दर को हासिल करने की बात करती रहती है।

क्या आने वाले कई वर्षों तक भी ऐसी वृद्धि दर प्राप्त कर पाना संभव है? नहीं। GDP वृद्धि दर 1988-89 के एकमात्र वर्ष के बाद कभी भी इस स्तर पर नहीं पहुँची है, और वह भी पिछले वर्ष के बेहद निचले आधार पर था (पिछला वर्ष भयंकर सूखे का वर्ष था)। 1990 के दशक में सिर्फ दो बार—1994-95 और 1995-96—में ही GDP वृद्धि उस स्तर तक पहुँची जो स्तर नवागंतुकों को खपा लेने के लिए जरूरी था। इसके बाद यह ठहरावग्रस्त हो गई (देखें तालिका 4)। 1992-93 से 2002-03 तक वार्षिक वृद्धि दर 5.9 प्रतिशत थी; इस काल के आखिरी छह सालों के दौरान यह 5.3 प्रतिशत रही।

बेशक जारी वर्ष 2003-04 के GDP वृद्धि दर के लिए कुछ आशावादी छलांगें आठ प्रतिशत हैं, मगर यह भी मुश्किल से ही नवागंतुकों को खपा पाएगी, और पिछले शेष को निपटाने के लिए कुछ नहीं कर सकेगी। इस तरह अगर हम पूरी तरह खुद सरकार की गणनाओं पर चलें तो 2003-04 के अंत तक 3.4 करोड़ लोग बेरोजगार होंगे और बेरोजगारी की दर 7.3

तालिका ४ : सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर (उपादान कीमत पर)

	3 साल पर औसत
1991-92	1.3
1992-93	5.1
1993-94	5.9
1994-95	7.3
1995-96	7.3
1996-97	7.8
1997-98	4.8
1998-99	6.5
1999-2000	6.1
2000-01	4.4
2000-02	5.6
2002-03	4.3

प्रतिशत से 8.8 प्रतिशत तक बढ़ चुकी होगी। इस पिछले शेष में हर साल और बेरोजगार जुड़ जाते हैं।

यह तस्वीर और बुरी ही जाती है अगर हम विल्कुल तर्कसंगत रूप से, यह मान लें कि श्रम शक्ति 1993-94 के 2.43 प्रतिशत की रफ्तार से ही बाद में भी बढ़ी। उस स्थिति में, 2003-04 के अंत तक श्रम शक्ति 42.7 करोड़ की संख्या तक पहुँच जाती है, कुल रोजगार जैसे-तैसे 34.9 करोड़ तक पहुँचता, और बेरोजगारों की संख्या 7.8 करोड़ तक पहुँच चुकी होगी। बेरोजगारी दर 13.2 प्रतिशत से बढ़कर 18.3 प्रतिशत पर सिर्फ चार वर्षों में पहुँच जाएगी।

इसके अतिरिक्त हर साल श्रम बाजार में सिर्फ ताजा आगंतुकों को खपाने के लिए GDP वृद्धि दर को 15.2 प्रतिशत के असंभव आँकड़े तक पहुँचना होगा।

यह सबकुछ सिर्फ शुद्ध रूप से सरकारी आँकड़ों और पद्धति के आधार पर ही देखा जा सकता है, सिर्फ इस तर्कसंगत सुधार के साथ कि श्रम शक्ति अपनी पुरानी दर पर ही बढ़ती रही होगी।

काम करने योग्य आयु की जनसंख्या का करीब आधा हिस्सा किसी भी प्रकार के रोजगार से मरहम है।

इन सभी गणनाओं में हमें दो अहम बातें को नहीं भूलना चाहिए।

पहली बात, “श्रम शक्ति” की सरकारी परिभाषा ऐसे

तालिका ५ : कारखाना क्षेत्र : इकाइयों, रोजगारों की संख्या और जोड़ा गया मूल्य

वर्ष	इकाइयों की सं. (हजार)	रोजगार (10 लाख)	रोजगार वृद्धि (%)	जोड़ा गया मूल्य (करोड़ रुपये)
1990-91	110.2	8.163	0.3	51,515
1993-94	121.6	8.708	0	88,434
1994-95	123.0	9.102	4.5	108,517
1995-96	134.6	10.045	10.4	139,397
1996-97	132.8	9.449	-5.9	157,349
1997-98	136.0	9.998	5.8	166,441
1998-99	131.7	8.589	-14.1	145,461
1999-2000	131.6	8.173	-4.8	154,974
2000-01	131.3	7.988	-2.3	143,621

किसी भी सूरत में कार्य करने वाले आयु के लोगों की आबादी और श्रम शक्ति के बीच का फर्क सिर्फ महिलाओं से नहीं बनता। कार्य करने वाले आयु के करीब 10 करोड़ पुरुष भी बेरोजगार हैं। एक महत्वपूर्ण आँकड़ा। जो याद रखना चाहिए वह यह है कि कार्य करने वाले आयु के समूह में सालाना वृद्धि करीब 1.8 करोड़ है, जबकि प्रति वर्ष रोजगार बढ़ातेरी 40 लाख से भी कम है।

लोगों की एक भारी जमात को छोड़ देती है जो काम करते अगर उन्हें नौकरी मिलने की कोई उम्मीद होती। कार्य करने वाले आयु वर्ग सरकारी तौर पर परिभाषित श्रम शक्ति से कहाँ ज्यादा बड़ा है। वर्ष 2000 में जब रोजगार 33.7 करोड़ था और श्रम शक्ति की सरकारी संख्या 36.3 करोड़, तो कार्य वाले जनसंख्या 57.8 करोड़ थी। मार्च 2004 तक जब रोजगार 34.9 करोड़ होगा तो कार्य वाले आबादी 66.2 करोड़ होगी, यदि मान लें कि यह आबादी 2.75 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफतार से बढ़ रही है। दूसरे शब्दों में, 31.3 करोड़ लोग, या कार्य वाले आयु वर्ग की आबादी का तकरीबन आधा हिस्सा, किसी भी प्रकार की 'लाभकारी गतिविधि' में लग पाने में अक्षम हैं, क्योंकि आर्थिक व्यवस्था और उसके द्वारा अपनायी गयी नीतियाँ ही ऐसी हैं।

यह दलील दी जा सकती है कि कार्य वाले आयु वर्ग के बिना नौकरी के लोगों की इतनी बड़ी संख्या घरेलू श्रम के कारण है, जो रोजगार के रूप में नहीं गिना जाता, जो औरतों द्वारा किया जाता है, जो घरेलू कामों के चलते 'रोजगारशुदा' होने के लिए खाली नहीं हैं। लेकिन दरअसल वे औरतें जो रोजगारप्राप्त लोगों के बीच गिनी जाती हैं वे भी घरेलू कामों से मुक्त नहीं हैं, भले ही उनके काम का क्षेत्र कुछ भी हो—कृषि, उद्योग, या सेवा सेक्टर। इसके अलावा, औरतों के उजरती 'रोजगार' के कईरूप घर-आधारित हैं—बीड़ी बनाना, पापड़/अचार/मसाले बनाना, पटाखे/माचिस/धूपबंती बनाना, बटन सीना, फीते बनाना, कपड़ों की जाँच करना, मालाएं बनाना, सामान्य खिलौनों को साथ जोड़ना, या दवाओं या उपभेदता सामग्रियों के लिए छोटे कार्डबोर्ड बॉक्स बनाना। इसलिए उनका घरेलू काम चाहे कितना भी भारी क्यों न हो, उनके 'लाभकारी गतिविधियों' में लगने के आड़े नहीं आता। औरतों के रोजगार के रास्ते में असली बाधा यह है कि ऐसे अवसर ही उपलब्ध नहीं हैं।

दूसरी बात यह कि जिन्हें रोजगारशुदा माना जाता है—मतलब जिन्हें लाभकारी गतिविधियों में लगा माना जाता है—उनमें से एक बड़ी संख्या जीविकोपार्जन स्तर से भी कम कमा पा रही है। उनमें से कई स्वरोजगार प्राप्त हैं, या तो निम्न किसान की तरह या मामूली फेरीवालों की तरह। वे चाहें जितना कम कमा पाएँ, उन्हें जो भी काम मिलता है, वे करते हैं क्योंकि उनके पास कोई विकल्प नहीं होता। उन्हें अल्परोजगारी प्राप्त (underemployed) माना जा सकता है। उनकी संख्या का अनुमान लगा पाना तो बेहद मुश्किल है, लेकिन यह काफी विशाल संख्या है। (जैसा कि पहले भी बताया गया है, कुल रोजगारशुदा लोगों में से सिर्फ आठ फीसदी संगठित क्षेत्र में हैं।)

बेरोजगारी की समस्या इस हद तक बढ़ चुकी है। नई अर्थिक नीतियों के श्री गणेश के पहले ही यह काफी गम्भीर थी; अब यह बेहिसाब रफतार से बढ़ रही है। 'श्रम लोच' के बढ़ने और मजदूरी का स्तर नीचे आने से रोजगार के पैदा होने की बजाय, इस काल में रोजगार वृद्धि की दर तेजी से गिरी है। सबसे तेज प्रत्यक्ष रोजगार वृद्धि का क्षेत्र, यानी सेवा क्षेत्र, असल में अल्प रोजगार या प्रच्छन्न बेरोजगारी का क्षेत्र है।

कृषि संकट : गिरते रोजगार का प्रमुख कारण

रोजगार के गिरते जाने की मुख्य वजह कृषि सम्बन्धी रोजगार में शून्य वृद्धि है (करेण्ट डेली स्टेटस के अनुसार 0.02 प्रतिशत प्रति वर्ष (1993-1994 से 1999-2000))। कृषि अभी भी देश का सबसे बड़ा रोजगारदाता है। 1993-94 में यह 60.4 प्रतिशत रोजगार के लिए जिम्मेदार था जबकि 1999-2000 में 56.7 प्रतिशत रोजगार के लिए। पहले यह अल्प रोजगार शुदा लोगों की विशाल संख्या को सोख लेता था। भविष्य में यह कम

से कम होता जाएगा।

जबकि इसका एक कारण मशीनीकरण है, कृषि सम्बन्धी रोजगार में ठहराव का प्रमुख कारण जमीन का बढ़ता संकेन्द्रीकरण है, जिसकी वजह मौजूदा अर्थिक नीतियाँ हैं। चूंकि कृषि में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश तेजी से घटा है, तमाम आगम कीमतें (input cost) बढ़ा दी गई हैं, बैंक उधार घट गया है, घरेलू फसलें सस्ते आयातों से प्रतियोगिता का सामना कर रही हैं, और कीमत समर्थन कार्रवाइयों को कम कर दिया गया है या समेट दिया गया है, ज्यादा से ज्यादा किसान अपनी जमीनें खो रहे हैं। कुल ग्रामीण घरों में भूमिहीन घरों की संख्या 1987-88 से 1999-2000 के बीच 35 फीसदी से बढ़कर 41 फीसदी हो गई है। चूंकि छोटी खेतियाँ परिवार के सदस्यों के श्रम का ज्यादा सघन इस्तेमाल कर सकती हैं, इसलिए जब किसान अपनी जमीन खोते हैं तो रोजगार भी घटता है। परिधिगत खेत जो लाभदायी नहीं होते और इसलिए ज्यादा रोजगार पैदा कर पाने में अक्षम होते हैं, वे ग्रामीण परिवारों में 19 फीसदी से बढ़कर 22 फीसदी हो गए हैं। अतः भूमिहीन और परिधिगत को मिला दें वे कुल ग्रामीण परिवारों का 63 फीसदी हैं जबकि वे 1987-88 में 57 फीसदी थे।

भूमि का यह संकेन्द्रीकरण एक ऐसे समय में बढ़ रहा है जब पैदावार में ठहराव आ रहा है और उत्पादन जनसंख्या से कम रफ़्तार से बढ़ रहा है। यह प्रक्रिया तेजी से बढ़ते कृषि क्षेत्र के किसी गतिमान वर्ग से नहीं पैदा हो रही है, बल्कि एक संकटग्रस्त, विकलांग कृषि क्षेत्र के परजीवी वर्गों से पैदा हो रही है। अन्य जगहों पर रोजगारों की गैर-मौजूदगी की सूरत में किसान जमींदार या सूदखोर या व्यापारी के सामने बेबस हो जाता है और वे उसकी इस बेबसी का फायदा उसकी जमीन छीनकर उठाते हैं।

जब 1990 के दशक में सरकार ने ग्रामीण अवरचन विकास और कल्याण कार्यक्रमों को कम किया, उसी समय ग्रामीण गैर-कृषि रोजगार की दर 1970 और 1980 के दशकों से आधी हो चुकी थी।

औद्योगिक रोजगार की स्थिति भी दयनीय

व्या उद्योग ने उन लोगों को लिया जो कृषि में रोजगार पाने में नाकाम रहे? कर्तव्य नहीं। अगर कृषि सम्बन्धी रोजगार पहले के समय की तरह ही बढ़ता रहता तो 1993-94 और 1999-2000 के बीच इसने 2.7 करोड़ रोजगार पैदा किए होते; उल्टे, जैसा कि हमने देखा यह बिल्कुल रुक गया था। इसी कालखण्ड के दौरान उद्योगों में जरूर 92 लाख नौकरियाँ बढ़ीं, लेकिन वह कृषि क्षेत्र में 'गायब' 2.7 करोड़ रोजगारों के केवल एक-तिहाई हिस्से की भरपाई कर पातीं।

इसके अतिरिक्त, यह शब्द "औद्योगिक रोजगार" भटकाने वाला हो सकता है। जबकि एन.एस.एस. हमें बताता है कि इस काल में मैनुफैक्चरिंग क्षेत्र में 58 लाख रोजगार पैदा हुए, संगठित मैनुफैक्चरिंग क्षेत्र में इसी काल में 2 लाख रोजगार पैदा हुए और तो और, नए "औद्योगिक" रोजगार फैक्ट्रियों में नहीं दिखलाई देते। एनुअल सर्वे ऑफ इन्डस्ट्रीज (जो 10 या

ज्यादा मजदूर और बिजली इस्तेमाल करने वाली या 20 या ज्यादा मजदूर और बिजली न इस्तेमाल करने वाली सभी इकाइयों को समेटा है) की सूचनाओं के अनुसार इसी काल में असली फैक्ट्री रोजगार 87 लाख से घटकर 80 लाख रह गया। अतः ऐसा लगता है कि "मैनुफैक्चरिंग" की अतिरिक्त नौकरियाँ फैक्ट्रियों के बाहर पैदा हुई थीं, यानी बेहद छोटी इकाइयों और आवास-आधारित मैनुफैक्चरिंग में। जाहिर है कि जिन्हें एन.एस.एस. 'मैनुफैक्चरिंग इकाई' कहता है उनमें से 86 फीसदी नियमित रूप से किराए के मजदूरों का श्रम नहीं इस्तेमाल करती; 70 फीसदी परिवारों में ही स्थित हैं; और विशाल बहुसंख्या आदिम या पारम्परिक किस्म के मैनुफैक्चर में लगी है (जैसे खाद्य पदार्थ, तम्बाकू या लकड़ी के सामान, कपड़े, ईंटे, चूड़ियाँ आदि)। इस क्षेत्र का विस्तार किसी तेजी से विकासमान औद्योगिक अर्थव्यवस्था का प्रतीक नहीं है, बल्कि जैसे-तैसे अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए संघर्षत परिवारों का प्रतीक है।

नए "औद्योगिक रोजगार" का दूसरा स्रोत निर्माण क्षेत्र था, जहाँ इसी काल में रोजगार 1.1 करोड़ से बढ़कर 1.5 करोड़ हो गया। मगर इसी काल में निर्माण में संगठित क्षेत्र रोजगार 1.2 से घटकर 1.1 करोड़ रह गया। असंगठित क्षेत्र के निर्माण का रोजगार थकाने वाला, असुरक्षित, खतरनाक, विस्थापित, और चिकित्सा सुविधाओं, विकलांगता हरजाने, बाल शिक्षा और रहने लायक आवास की सुविधा से मरहम रोजगार है।

जब जुलाई 1991 में काफी हो-हल्ले के साथ नई आर्थिक नीतियों की शुरुआत हुई थी, तो हमें बताया गया था कि विदेशी निवेश भारी पैमाने पर नौकरियाँ पैदा करेगा। 1991-92 से 2000-01 के बीच भारत में 178 करोड़ डॉलर का सीधा विदेशी निवेश हुआ और कारपोरेट क्षेत्र में विदेशी कम्पनियों का हिस्सा काफी बढ़ा है। ऐसे निवेश के सीधे परिणाम के तौर पर रोजगार बढ़ने का कोई आँकड़ा नहीं है। लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि 1980 के दशक के 16.9 प्रतिशत और 1970 के दशक के 28.3 फीसदी के मुकाबले 1991 से 2001 तक संगठित क्षेत्र में मैनुफैक्चरिंग रोजगार की वृद्धि दर सिर्फ 1.7 फीसदी थी। उसी समय बाजार में विदेशी कम्पनियों के बढ़ते हिस्से की वजह से कई ज्यादा रोजगार सघन छोटी कम्पनियाँ बंद हुई हैंगी, और इस प्रकार कुल मिलाकर रोजगार कम हुआ होगा।

औद्योगिक रोजगार के न बढ़ने का एक कारण उद्योगों का काफी धीमे विकसित होना है। और इस धीमे विकास की वजह माँग का स्थिर होना है। इसके अलावा जैसे-जैसे आय समाज के ऊपर के एक छोटे से तबके की ओर खिसकती जाती है, न सिर्फ उस आय का एक पहले से छोटा हिस्सा खर्च हो पाता है बल्कि जिस किस्म के मालों की माँग की जाती है वह भी बदल जाता है : कम दाम वाले सामान (रोजाना उपभोग के सामान, बर्तन, सस्ते फर्नीचर, सस्ते कपड़े और ज्यादा सुविधा-सम्बन्धी सामान (इलेक्ट्रॉनिक गुड्स, कारें, महँगे कपड़े), जिन्हें ज्यादा आयातित आगमों (imported in-

puts) की जरूरत पड़ती है और कृषि सम्बन्धी आगमों (agricultural inputs) की कम।

मान लिया जाए कि किसी वजह से गरीब किसानों को कुछ अतिरिक्त आय होती है; वे इसके पहले एक हिस्से का इस्तेमाल नई धोतियाँ खरीदने में करते हैं। धोतियों के लिए कपड़े का उत्पादन न सिर्फ कपड़ा उद्योग में नौकरियाँ पैदा करता है बल्कि आगम के तौर पर सूत की मांग करता है जो कृषि में मांग को जम्म देता है। कपड़ा उद्योग को मशीनों की जरूरत पड़ती है, जो न सिर्फ कपड़ा मशीनों के उद्योग में मांग को जम्म देती है बल्कि उन सभी उद्योगों में मांग को पैदा करती है जो इसके आगमों की आपूर्ति करते हैं—जैसे कि स्टील, जिसके लिए लोहे और कोयले के खनन की जरूरत पड़ती है, और यह सिलसिला चलता ही जाता है। अतिरिक्त फैक्ट्रियों का नई मांग को पूरा करने के लिए लगाए जाने में सीमेंट, स्टील और अन्य निर्माण सामग्रियों की जरूरत पड़ती है। इन फैक्ट्रियों में लगे मजदूरों को और कपड़े खरीदने के लिए आय प्राप्त होती है और वैसा ही सूत उगाने वाले किसानों के साथ होता है और इस तरह पूरा चक्र फिर से चल पड़ता है। इस प्रकार मांग में प्रारम्भिक वृद्धि कई गुना अधिक आय में परिणामित होती है। महत्वपूर्ण रूप से धोतियाँ तैयार करने में आवश्यक माल और तकनीक देश के अन्दर ही मौजूद है, और इसलिए मामूली मांग है उपरोक्त प्रक्रिया में देश से बाहर जाती है।

अब मान लें कि वही आय मुम्बई में वित्तीय सेक्टर में लगे एक चोटी के अधिकारी के हाथ में आती है। वह इसके एक बड़े हिस्से की बचत कर लेगा—एक हिस्सा किसी उच्च रूप से स्वचालित विदेशी बैंक में और एक हिस्सा शेयरों और म्यूचुअल फण्ड यूनिट्स में। अगर वह बहुत अमीर है तो वह इसका एक विशाल हिस्सा किसी विदेशी बैंक में जमा कर देगा, हालाँकि यह कानूनी नहीं। बची हुई राशि का एक छोटा-सा हिस्सा खाने-पीने में खर्च करेगा, लेकिन उसमें भी एक अच्छा-खासा हिस्सा महँगे रेस्टोरेंटों को जाएगा जहां बड़े टर्नओवर के लिए मामूली रोजगार ही पैदा होता है। खर्चों का एक बड़ा हिस्सा गाड़ियों, लक्जरी इलेक्ट्रॉनिक सामानों, इन्टीरियर डेकोरेशन और भारत और विदेश में फाइबर स्टार होटलों के छुटियों, अपने बच्चों को विदेश में शिक्षा दिलाने, आदि पर जाएगा। भारत में गाड़ी, लक्जरी इलेक्ट्रॉनिक सामान का उद्योग, फाइबर स्टार होटल, सभी विशाल आयात करते हैं, और अमीरों के लिए इन्टीरियर डेकोरेशन में भी बड़े पैमाने पर आयातित सामानों का इस्तेमाल होता है। इस प्रकार उसकी बचत और उपभोग का एक बड़ा हिस्सा देश से बाहर चला जाता है। शेयर मार्केट और बैंकों में उसकी बचत के एक हिस्से को संभवतः कभी निवेशित नहीं होना होता, क्योंकि कारपोरेट जगत तब तक नए निवेश नहीं करेगा जब तक कि औद्योगिक सामानों की मांग न बढ़े, और अगर कारपोरेट उधार नहीं लेंगे तो बैंक उत्पादन के लिए उधार नहीं देंगे। हमारे अधिकारी बंधु, की बचतें वित्तीय बाजारों में राशियों के एक विशालतर भण्डार का हिस्सा बन जाती हैं जो ठहरावग्रस्त उत्पादक अर्थव्यवस्था पर बड़ा से बड़ा दावा करती जाती हैं।

बेशक उसकी अतिरिक्त आय से कुछ रोजगार पैदा होगा : आयातित लक्जरी के सामानों को व्यावस्थित करने वाले मजदूरों के लिए, घरेलू नौकरों, ड्राइवरों और सिक्योरिटी गाड़ों के लिए, उसके गोल्फ कोर्स के कर्मचारियों के लिए, इत्यादि। लेकिन इस प्रक्रिया में पैदा होने वाली उत्पादक गतिविधि, आय और रोजगार धोतियों की मांग से पैदा होने वाले रोजगार से कहीं कम होगी। इसके अलावा एक सम्पूर्ण घरेलू औद्योगिक आधार, ऐसे औद्योगिक आधार को स्थापित करने और चलाने के लिए जरूरी तकनीकी जानकारियाँ धोतियों की मांग को पूरा करने की प्रक्रिया में विकसित होंगे। दूसरी तरह की मांग में ऐसा आधार और ऐसी क्षमताएँ नहीं पैदा होतीं, जहां अर्थात् गतिविधियाँ और क्षमताएँ जो विकसित होती हैं वे सीमित, अव्यवस्थित और निर्भर हैं।

सेवा क्षेत्र यानी नौकरी खोजने वालों का आखिरी आसरा

नई नौकरियों का मुख्य स्रोत सेवा क्षेत्र था जिसने 1.15 करोड़ अतिरिक्त रोजगार मुहैया कराए।

सेवा क्षेत्र में सबसे बड़ा हिस्सा “व्यापार, होटल और रेस्टोरेंट” का था, जिसने 1993-94 और 1999-2000 के बीच 1.07 करोड़ रोजगार पैदा किए और जो मैनुफैक्चरिंग से से भी बड़ा रोजगारदाता बनने को तैयार दिखता है। “व्यापार” में सभी प्रकार के मामूली फेरी वाले शामिल हैं, जो कि एक-पुरुष या एक-स्त्री वाली गतिविधि है (नौकरियों की प्रति उद्यम औसत संख्या असंगठित क्षेत्र में दो से भी कम है)। वे एक त्रिराशाजनक जीवन जी रहे हैं, जहाँ कृषि लम्बे समय से प्रच्छन्न बेरोजगारी का और कहीं न नौकरी पाने वालों की विशाल जमात को नगण्य जीविकोपार्जन उपलब्ध कराने वाला केन्द्र बनी हुई थी, वहां अब सेवा क्षेत्र भी वही भूमिका निभाता दिख रहा है।

“नई अर्थव्यवस्था” की नौकरियाँ : बेरोजगारी के पैमाने के मद्देनजर नगण्य

जाहिरा तौर पर ‘सेवा क्षेत्र’ में ‘लगे’ लोगों की असल स्थिति को मुख्य मीडिया में कोई स्थान नहीं मिलता, जो सॉफ्टवेयर और “सूचना तकनीक जनित सेवाओं” (ITES या BPO-Business Process Outsourcing) के क्षेत्र में पैदा होने वाली नौकरियों को काफी स्थान देता है। ये दोनों गतिविधियाँ विदेशी कम्पनियों, खास तौर पर अमरीकी कम्पनियों, के टेक का काम होती हैं। पहले, यानी सॉफ्टवेयर उद्योग में कारपोरेशनों की अन्दरूनी जरूरतों (जैसे, सूचना को व्यवस्थित करना) के लिए प्रोग्रामों को लिखना शामिल है। इस काम को मुख्य रूप से वे भारतीय पेशेवर सॉफ्टवेयर विशेषज्ञ करते हैं जो बाहर काम करने चले जाते हैं। दूसरे में विदेशी कम्पनियों/सरकारी एजेंसियों के तुच्छ काम शामिल होते हैं, जैसे कि फोन कॉलों का जवाब देना, दावों को व्यवस्थित करना, टेप किए गए संदेशों

से मेडिकल रिकॉर्डों को ट्रांसक्राइब करना, आदि। इन नौकरियों में बेशक बेहद तेज बढ़ोत्तरी हुई है। सॉफ्टवेयर नव्वे के दशक में लगभग शून्य से शुरू हुआ था और ITES लगभग पांच साल पहले। 2003 तक वे क्रमशः 4 लाख 60 हजार और 1 लाख 60 हजार रोजगार दे रहे थे। जबकि हमें पता है कि संगठित चेत्र में इसी कालखण्ड में नौकरियाँ कम हो रही हैं, तो ऐसी वृद्धि नाटकीय प्रतीत होती है। निश्चित तौर पर, भाजपा सरकार ने इसी चीज को अपने “भारत उदय” का एक प्रमुख अंग बनाया था और जल्दी ही उसने “ITES क्षेत्र में रोजगार की संभावनाओं को दर्शाने के लिए और इसे पसंदीदा कैरियर के रूप में प्रोत्साहित करने का अभियान हाथ में लिया।” (Business Standard, 2/12/03)

लेकिन जहां एक ओर सॉफ्टवेयर और ITES मध्य वर्ग के बेरोजगारों के एक बड़े हिस्से को ले सकता है और उनकी हताशा को ठण्डा करने में एक अहम भूमिका निभा सकता है वहां इसकी नौकरियाँ कुल रोजगार के हिस्से के तौर पर (2004 में 0.2 प्रतिशत) भी और आवश्यक कुल रोजगार के हिस्से की तुलना में भी मामूली है अमेरिका से किजनी ITES नौकरियाँ 2015 तक खिसक सकती हैं इसका फैरिस्टर रिसर्च द्वारा किया गया बेहद उदार अनुमान भी महज 33 लाख पर आकर रुक जाता है। यह अंदाजा कोई भी लगा सकता है कि इसमें से कितनी नौकरियाँ भारत आ सकती हैं जबकि हम जानते हैं कि चीन जैसे कई देश समान रूप की गतिविधियों के लिए अपने आपको तैयार कर रहे हैं। अगर यह भी मान लिया जाए कि भारत को इनमें से बीस लाख नौकरियाँ मिलती हैं तो भी हमें जरूरत है कि हम इस आंकड़े को भारतीय श्रम बाजार के आकार के बरक्स खड़ा करें। अगर भारतीय श्रम बाजार में नवागंतुकों संख्या को नौ से दस लाख प्रति वर्ष माना जाए, तो खिसक कर आए ITES रोजगार भारतीय रोजगार बाजार के सिर्फ दो प्रतिशत हिस्से का प्रतिनिधित्व करेंगे।

भारत के अधिकांश उद्योग मुख्य रूप से घरेलू मांग पर निर्भर हैं और मुख्य रूप से घरेलू आगमों का ही इस्तेमाल करते हैं। लेकिन IT और ITES उद्योग घरेलू उद्योग से आगमों का एक बेहद छोटा हिस्सा इस्तेमाल करते हैं और अपनी सेवाओं से मुख्य रूप से विदेशी मांग को संतुष्ट करते हैं। रोजगार के लिए इसके दो मतलब हैं। पहला, पिछड़े

जुड़ावों (backward linkages) के बाकी अर्थव्यवस्था से सम्बन्धों के अभाव का अर्थ यह है हक IT उद्योगों की वृद्धि अन्य उद्योगों में ज्यादा नौकरियों को नहीं जन्म देगा। दूसरा मजलब यह है कि, आग किसी वजह से विदेशी मांग गिरती है—मसलन, इन्हीं सेवाओं में दूसरे देशों से कड़ी चुनौती मिलती है या अमेरिका जैसे देश ऐसी सेवाओं की आउटसोर्सिंग पर रोक लगा दें—तो रोजगार अचानक बेहद नीचे जा सकता है। अभी तक हुई ITES नौकरियों के मामूली विस्थापन तक की अमेरिका में राजनीतिक रूप से काफी थू-थू हुई है, सॉफ्टवेयर पेशेवरों के लिए बीजा के कोटे को घटाकर आधा कर दिया गया है, भारतीय कम्पनियों को ठेके पर काम देने से अमेरिकी राज्य सरकारों को रोकने के लिए कानून पारित किए जा रहे हैं। इस तरह “इस क्षेत्र की रोजगार संभावनाओं को प्रदर्शित करने और इसे एक पसंदीदा कैरियर के तौर पर प्रोत्साहित करने के लिए” मुश्किल से कोई बुनियाद मौजूद है।

देश में रोजगार और बेरोजगारी की यह स्थिति है। यह सोच कि श्रम शक्ति की कीमत को पर्याप्त रूप से नीचे गिरा दिया जाए तो पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है, उन्नत पूँजीबादी देशों के लिए भी गलत है, क्योंकि पूँजीपति रोजगार देने के फैसले मजदूरी के स्तर के आधार पर नहीं बल्कि इस आधार पर लेते हैं कि लाभ सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त मांग मौजूद है या नहीं। लेकिन भारत में तो श्रम शक्ति की ‘बाजार सफाया’ कीमत की सोच खास तौर पर मूर्खतापूर्ण है, जहाँ कार्य करने योग्य आयु के आधे लोगों के पास किसी भी प्रकार का रोजगार नहीं है, और रोजगारशुदा आबादी का भी एक अच्छा-खासा हिस्सा विभिन्न प्रकार के स्वरोजगारों के जरिए किसी तरह जीवन चला रहे हैं। श्रम बाजार का सफाया नहीं हो सकता, यानी सभी संभावित मजदूरों को रोजगार नहीं मिल सकता, चाहे श्रम शक्ति का मूल्य कितना भी कम हो, क्योंकि देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था कुल मांग और रोजगार का वह स्तर पैदा कर पाने में अक्षम है। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि भारत साम्राज्यवाद की गिरफ्त में है (विकासरुद्ध और विदेशी पूँजी के शिकंजे में)। और इसलिए इसकी विशाल उत्पादक संभावना, करोड़ों लोगों का श्रम एक फिजूल मामला बन जाता है।

‘आप्येक्टस आफ इण्डियाज़ इकॉनमी’ से साभार

नेटवर्क मार्केटिंग की असलियत

(पेज 40 से जारी)

भलाई है, न कि शोषक पर्जीवी पूँजीपति वर्ग के पीछे चलते हुए उसके इशारों पर नाचने व उसके बिछाये जाल में फँसने में। यह तय है कि अंततः उसे अपने वर्ग से टूटकर मजदूर वर्ग में शामिल होना ही है। अतएव इस मकड़जाल से बचें। जो फँस चुके हैं, वे इस चक्रव्यूह से निकलने की कोशिश करें; अन्यथा इसका बड़ा ही भयानक परिणाम भोगना पड़ेगा।

(* संदर्भ—नेटवर्क मार्केटिंग से संबंधित प्रचार-सामग्री;

जैसे—सी०डी०, कैसेट्स, पुस्तकें, सेमिनारों के भाषण आदि से।)

‘जीवन-चर्चा’ से साभार

सा विद्या या विमुक्तये

(पेज 22 से जारी)

का सहारा लेकर युवाओं का मत कोसिए। आज शिक्षा सत्ता की अनुगमिनी है। शिक्षा-नीति सत्ताधारी बनाते हैं। शिक्षक औंख मूँदकर उसका अमल करते हैं तो छात्र उन्हें बड़े बाबू, खजांची या टिकट-कलर्क ही समझते हैं। इससे अधिक कुछ भी नहीं। हाँ, जो भी सत्ता-प्रतिष्ठानों के सीमान्तों से बाहर आकर शिक्षक धर्म अनुपालन करेगा, छात्र उसे निश्चय ही सम्मान देंगे।”

भाईजी सहमत नहीं थे, पर चुप थे।

इराक : फर्जी चुनाव के बाद की असलियत

● सत्यम्

अमेरिका आखिरकार इराक में “लोकतंत्र” ले ही आया। आखिर इसी दिन के लिए तो इराक पर लाखों टन बम बरसाए गए थे, हजारों लोगों की बलि चढ़ाई गई थी और पूरे देश को तहस-नहस कर दिया गया था। यह सब एक छोटी-सी कीमत थी—दुनिया के सबसे अनोखे चुनाव के लिए—ऐसा चुनाव जिसमें न तो प्रत्याशियों का अता-पता था, न मुद्राओं का, न मतदाता सूचियों का। पूँजीवादी देशों का भोपू अंतरराष्ट्रीय मीडिया लगातार इस चुनाव की “सफलता” का ढिंढोरा पीट रहा है। झूठ पर झूठ परोसे जा रहे हैं। इराकी चुनाव आयोग के प्रमुख ने पहले कहा कि 72 प्रतिशत वोट पड़े हैं, फिर कहा कि 60 प्रतिशत और निर पत्रकारों के सवालों के जवाब में झोपते हुए माना कि उनके पास कोई आँकड़े नहीं हैं और वे सुनी-सुनाई बातों के आधार पर अपना अनुमान बता रहे हैं। यह चुनाव कितना वास्तविक था इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि हर जगह अंतरराष्ट्रीय पर्यवेक्षक भेजने को आतुर रहने वाले अमेरिका ने कई अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की माँग के बावजूद इराकी चुनाव में किसी स्वतंत्र पर्यवेक्षक को नहीं जाने दिया।

इराक की ढाई करोड़ की आबादी में से कुछ लाख लोगों ने अगर बोट डाला भी तो उसके पीछे सबसे बड़ी बजह यह उम्मीद थी कि चुनाव के बाद अमेरिकी और ब्रिटिश फौजें उनका देश छोड़कर चली जाएंगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं होने वाला!

इस फर्जी चुनाव के बाद बनने वाली नई सरकार में वही मुट्ठीभर अमेरिकी पिट्ठू होंगे जो खुद अपने और अपने साप्राज्यवादी आकाओं के सिवा किसी और का प्रतिनिधित्व नहीं करते। ऐसी सरकार पूरी तरह अमेरिकी फौजों के सहारे ही टिकी रह सकती है। इसलिए तथ्य है कि ढेढ़ लाख विदेशी सैनिक इराकी धारती को रौंदते रहेंगे। हर मंत्रालय और हर विभाग में पहले ही अमेरिकी ‘सलाहकार’ बैठाए जा चुके हैं

और सरकार का कामकाज उनके इशारों पर ही चलेगा। इराक की समस्त पूँजी और तेल पर उन्हीं का नियंत्रण होगा। चुनाव के इस नाटक से बस इतना होगा कि एक कठपुतली सरकार की जगह दूसरी कठपुतली सरकार बैठ जायेगी। यहां तक कि सरकार में शामिल होने वाली ज्यादातर कठपुतलियाँ भी वही रहेंगी।

लेकिन यह सारा ड्रामा रचाकर भी अमेरिकी साप्राज्यवादियों को राहत नहीं मिलने वाली है। इराक में प्रतिरोध संघर्ष उनकी तमाम कोशिशों के बावजूद लगातार ज्यादा संगठित और विस्तारित होता जा रहा है। इराकी विद्रोहियों के हमले दिनोंदिन ज्यादा घातक होते जा रहे हैं। पिछले कई महीनों में एक भी दिन ऐसा नहीं गुजरा है जब विद्रोहियों ने एक से ज्यादा हमले न किये हॉ। इस वर्ष जनवरी तक इराक में 1600 से ज्यादा विदेशी सैनिक मारे जा चुके हैं और दस हजार से ज्यादा घायल हुए हैं। इनमें ज्यादातर अमेरिकी हैं। इसके अलावा 5,500 से ज्यादा अमेरिकी सैनिक भगाड़े बन गये हैं।

इनमें से ज्यादातर वे हैं जो छुट्टी पर घर गये और वापस इराक लौटने से इंकार कर दिया। ऐसे कई अमेरिकी सैनिकों ने कनाडा में शरणार्थी का दर्जा मांगा है। मानसिक रोगों से ग्रस्त अमेरिकी और ब्रिटिश सैनिकों की तादाद बढ़ती जा रही है। इराकी जनता के खिलाफ एक बर्बर और अन्यायपूर्ण युद्ध में शामिल होने का मानसिक तनाव इसका सबसे बड़ा कारण है।

प्रतिरोध संघर्ष स्रीं तथाकथित “सुनी त्रिकोण” तक ही नहीं सिमटा है जैसा कि अमेरिका बार-बार दावा करता है। वह पूरे इराक में फैल चुका है—सुदूर उत्तर में जाखो से लेकर दक्षिण में फाओं तक। नसीरिया, अमारा, दिवानिया, हिल्ला, नजफ, बकूबा, मोसुल, किरकुक, तिकरित, कराबा, समाबा, अब्रिल, सुलेमानिया और बगदाद—इराक के हर अहम शहर में

(पेज 21 पर जारी)



इराकी छापामारों द्वारा गिराये गये अमेरिकी हलीकोप्टर के सामने जश्न मनाते नौजवान और बच्चे

सुनामी : महज कुदरत का कहर नहीं

● आशू

हिन्द महासागर में उठी सुनामी लहरों ने एशिया में दो लाख लोगों की जान ली है और लाखों को बेघर और बेरोजगार कर दिया है। लेकिन यह तबाही सिर्फ कुदरत का कहर नहीं है। भूकंप, ज्वालामुखी, तूफान-चक्रवात आदि प्रकृति के प्रकोप हैं जिन पर इंसान का वश नहीं है। लेकिन इनसे होने वाली तबाही को रोकना या बहुत कम कर देना इंसान के वश में है।

यह सच्चाई अखबारों में आ चुकी है कि आज न केवल सुनामी लहरों की पूर्व सूचना देने की तकनीलाजी विकसित हो। चुकी है बल्कि आपदा प्रबंधन की ऐसी प्रणाली भी विकसित की जा सकती है जिससे लोगों को समय पर सूचना दी जा सके और वे सुरक्षित जगहों पर जा सकें। इसी तकनीलाजी की मदद से अमेरिका को समय रहते सुनामी की खबर मिल गई थी और उसने हिन्द महासागर के दिएगो गार्सिया द्वीप में अपने नौसैनिक अड्डे को बचा भी लिया। लेकिन अमेरिकी साम्राज्यवादी लुटेरों ने दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों को चेतावनी देने की कोई जरूरत नहीं समझी। अब तबाही का कहर बरपा होने के बाद अमेरिका और दूसरे साम्राज्यवादी लुटेरों राहत और पुनर्निर्माण के नाम पर उसी धिनैने खेल में जुट गये हैं जो वे अफगानिस्तान और इराक की तबाही के बाद खेल रहे हैं। यही है पूँजीवाद का असली चेहरा जो युद्धों और प्राकृतिक आपदाओं को भी मुनाफा कमाने के अवसर में बदल देता है।

पृथ्वी को कई बार बर्बाद कर देने की क्षमता रखने वाले भयंकर विनाशकारी हथियार विकसित करने में खंबों डालर फूँकने वाले पूँजीवादी देशों को इस बात की कर्ती परवाह नहीं है कि मानवता को ऐसी त्रासदियों से बचाने का स्थायी इंतजाम कैसे किया जाए। लोमोण्ट-डोहर्टी पृथ्वी वेधशाला के भूकम्प वैज्ञानिक आर्ट लर्नर-लैम और लियानार्डों सीबर तथा इण्टरनेशनल अर्थ साइन्स इनफार्मेशन नेटवर्क के भौगोलिक रबर्ट चेन कहते हैं कि इण्डोनेशिया के सुमात्रा द्वीप में आया प्रलयकारी भूकम्प 'जिससे सुनामी लहरें पैदा हुई' कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं थी। विकसित पूँजीवादी देशों के पास ऐसे भूकम्पमापक यंत्र हैं जो भूकम्प के सम्भावित स्थान और उनकी विनाशक क्षमता का बिल्कुल ठीक-ठीक आकलन कर सकते हैं। इस यंत्र की सहायता से इसका भी ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है कि समुद्र की सतह पर आने इस भूकम्प से कितनी प्रचण्ड सुनामी लहरें पैदा होंगी। जैसे ही सुनामी लहरें बंगाल की खाड़ी पार करेंगी इसका पता लग जायेगा। एक सेकण्ड से भी कम समय में। लेकिन वर्षों से इस पर सिर्फ चर्चा ही होती रहती है कि समुद्र की सतह के ऊपर संवेदी यंत्र लगा दिया जाये जिससे

इसकी तीव्रता और रास्ते का पता लग सके। लेकिन यह आज तक लागू नहीं हो सका। इन वैज्ञानिकों का मानना है कि हिन्द महासागर में सुनामी चेतावनी प्रणाली विकसित करने में कोई भी तकनीकी बाधा नहीं है। प्रशान्त महासागर क्षेत्र में यह प्रणाली पिछले 40 सालों से मौजूद है। इन वैज्ञानिकों का कहना है कि विश्व स्तर पर सुनामी चेतावनी प्रणाली विकसित करने में उससे कम पैसा खर्च होगा जितना तबाही के बाद राहत और बचाव में खर्च होता है। लेकिन क्या मुनाफे पर टिकी विश्व व्यवस्था में क्या यह मुमकिन है? अगर यह मुमकिन होता तो हर साल दुनिया के किसी न किसी कोने में आने वाली प्राकृतिक आपदाओं के समय इन्सानियत बेवस नजर नहीं आती।

सुनामी से हुए नुकसान को सिर्फ कुदरत का कहर करार देना भी सच्चाई पर पर्दा डालना है। अगर सागर तट के इलाकों में मैनग्रोव वन बचे रहें होते तो वे लहरों की मार को कुन्द कर देते और तबाही बहुत कम होती। लेकिन नियंत्रित करने के लिए झींगा पालन के बास्ते इन वनों का सफाया कर दिया गया। कुछ वर्ष पहले उड़ीसा में आये भयंकर चक्रवात के समय ही यह साफ हो गया था कि अगर मैनग्रोव वन बुरी तरह काट नहीं दिये गये होते तो हजारों लोगों की जान बच सकती थी। लेकिन मुनाफे के पीछे पागल इस व्यवस्था के पास ऐसी चेतावनियों पर ध्यान देने की फुरसत नहीं है।

इधर भारत सरकार का आपदा प्रबंधन तंत्र कितना चौकस है इसका पता इसी बात से चलता है कि सुनामी की सबसे पहली सूचना पूर्व विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी मंत्री मुरली मनोहर जोशी को भेज दी गई। दरअसल यह तंत्र जिस नौकरशाही के बूते पर चल रहा है उसकी संवेदनशीलता की बानगी तो राहत कार्यों में उजागर हो रहे भ्रष्टाचार से रोज मिल रही है। सुनामी के कहर से बच गये लोग भूख से तड़पते हुए जब सरकारी कैप में पहुँचते हैं तो वहाँ अफसर बिरयानी चबाते हुए मिलते हैं। सुनामी ही क्यों, बाढ़, सूखा, भूकंप-हर आपदा में यही होता है। तबाही के बाद शुरू होती है सरकारी गिर्दों और गीरद़ों की दावत!

कुछ और मुद्राखोरों की दावत तो तबाही के दौरान ही शुरू हो गयी थी। जिस दिन अन्तर्राष्ट्रीय रेड क्रॉस ने यह घोषित किया कि मरने वालों की संख्या सबा लाख से ज्यादा हो सकती है, उस दिन मुम्बई शेयर बाजार का संवेदी सूचकांक उछल मार कर 6000 से ऊपर पहुँच गया। कहा जाता है कि (पेज 21 पर जारी)

इराकः फर्जी चुनाव के बाद की असलियत

(पेज 19 से जारी)

संघर्ष जड़ें जमा चुका है। कई शहरों और कस्बों में तो कब्जावर फौजें और इराकी पुलिस गश्त लगाने से भी डरती हैं।

विद्रोहियों ने स्पेन सहित 10 देशों के सैनिकों को इराक छोड़ने पर मजबूर कर दिया है। हांगरी, पोलैंड और नीदरलैंड भी इस वर्ष के शुरू में अपनी फौजें वापस बुला लेंगी। पुनर्निर्माण के नाम पर इराक की लूट में हिस्सा बैठाने आई कई कंपनियों को भी विद्रोहियों ने भागने पर मजबूर कर दिया है। कई और कंपनियां तौल रही हैं कि इराक में रुकना कितना फायदेमंद होगा। हालत यह है कि उनके कुल बजट का आधे से अधिक सुरक्षा और बीम का इंतजाम करने में ही खर्च हो जा रहा है।

इराक पर हमले के लिए अमेरिका ने जितने झूठ गढ़े थे, सब तार-तार हो चुके हैं। इराक में घातक हथियारों के जिस जखीरे को नष्ट करने के नाम पर हमला किया गया था, आज उसकी खोज तक बंद कर दी गई है। अबू गरेब जेल में कैदियों के साथ वहशियाना सलूक ने पूरी दुनिया के लोगों को बता दिया है कि अमेरिका इराक में किस तरह का लोकतंत्र और "आजादी" लाना चाहता है। यही वजह है कि खुद अमेरिका में बुश की इराक नीति का विरोध तेज होता जा रहा है।

अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने सोचा था कि इराक को कुचलकर उसके तेल पर बड़ी आसानी से कब्जा कर लेंगे। लेकिन इराकी जनता के भीषण प्रतिरोध ने उनका सारा गणित बिगड़कर रख दिया है। इराक में बढ़ते सैनिक खर्च के बोझ तले अमेरिकी अर्थव्यवस्था चरमरा रही है। वर्ष 2004 में अमेरिका का कुल सैन्य खर्च 437 अरब डालर था, जो 2001 के मुकाबले 50 प्रतिशत ज्यादा है। अमेरिका का बजट धाटा भयंकर हो चुका है और वह इस समय दुनिया का सबसे बड़ा कर्जदार देश है। अन्य साम्राज्यवादी देशों से अमेरिकी चौधराहट को कड़ी चुनौती मिल रही है। जिस दिन कई तेल उत्पादक देशों ने अपना कारोबार डालर के बजाय यूरो में करने का फैसला कर लिया, उस दिन अमेरिकी अर्थव्यवस्था की चूलं हिल जायेगी।

बौखलाया अमेरिकी शासक वर्ग इसीलिए अपनी फौजी ताकत की नुमाइश करके दुनिया पर अपना दबदबा कायम रखने की बदहवासी भरी कोशिशें कर रहा है। लेकिन अफगानिस्तान और इराक ने उसकी फौजी ताकत की भी हेकड़ी ढीली कर दी है। दुनिया की जनता वियतनाम और कोरिया को नहीं भूली है जहां से पिटकर अमेरिका को भागना पड़ा था। लेकिन साम्राज्यवादी बार-बार इतिहास के इस सबक को भूलने का दुस्पाहस करते रहते हैं कि हथियारों के बड़े से बड़े जखीरे भी जनसंघर्षों के महासमूद्र में डूब जाते हैं।

सुनामी : महज कुदरत का कहर नहीं

(पेज 20 से जारी)

शेयर सूचकांक देश की अर्थव्यवस्था का बैरोमीटर होता है। इस नजरिए से देखा जाए तो मतलब यही निकला कि जब प्राकृतिक आपदाएँ आती हैं तो शेयर बाजार खुश होता है। लेकिन शेयर बाजार खुश क्यों होता है? कारण साफ है! जब प्रलयकारी लहरें सबकुछ तहस-नहस कर रही थीं तो पूँजी बाजार को यह उम्मीद बँधने लगी थी कि अब पुनर्निर्माण के नाम पर उसके खिलाड़ियों को मुनाफा कमाने का मौका हाथ लगेगा। पूँजीवाद का यह बुनियादी नियम है कि रुकी पड़ी पूँजी को चलायमान बनाने के लिए समय-समय पर पूँजीपति उत्पादन और उत्पादक शक्तियों का जानबूझकर विनाश करते हैं। कभी लाखों टन अनाज समुद्र में फेंक दिया जाता है तो कभी युद्ध और प्राकृतिक आपदाएँ उन्हें यह मौका दे देते हैं। इसके बाद पुनर्निर्माण के नाम पर पूँजी फिर गतिशील हो जाती है और मुनाफे का कारोबार खूब फलता-फूलता है।

हर आपदा के समय एक बात दिखाई देती है कि पशु-पक्षियों को पहले से संकेत मिल जाते हैं। इस बार भी ऐसा ही हुआ। और तो और, अंडमान-निकोबार में रहने वाले जनजातीय लोगों ने भी समुद्र के संकेतों को पहचान लिया और समय रहते ही पहाड़ियों में चले गये। तमाम आशंकाओं के बावजूद उनका बहुत कम नुकसान हुआ। क्या आपने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है? पूरा मानव समाज प्रकृति का ही विस्तार है। लेकिन वर्ग समाज में मनुष्य न सिर्फ एक-दूसरे से कटा और दूर होता चला गया है बल्कि प्रकृति से भी दूर होता चला गया है। पूँजीवाद ने प्रकृति से इस अलगाव को और बढ़ाया ही है क्योंकि उसके लिए तो प्रकृति महज एक संसाधन है मुनाफा पैदा करने का। यहां तक कि प्रकृति की सुंदरता भी एक बिकाऊ चीज है। ऐसे समाज में मनुष्य प्रकृति की आवाज को कैसे सुन सकेगा?

सुनामी की तबाही एक बार फिर एक ऐसा समाज बनाने की जरूरत की याद दिलाती है जिसमें इंसान न तो प्रकृति का गुलाम होगा और न ही उसका व्यापारी, बल्कि पूरा मानव समाज मिलकर प्रकृति की शक्तियों को इंसानियत की तरकी में लगाने के लिए काम करेगा। ऐसे समाज के केन्द्र में मुनाफे की हवस नहीं बल्कि पूरी मानवता का साझा हित होगा।

नौजवानों के लिए जरूरी

भगतसिंह की पाँच पुस्तिकाएँ

- मैं नास्तिक क्यों हूँ? और ड्रीमलैण्ड की भूमिका
- क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा
- बम का दर्शन और अदालत में बयान
- जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो
- भगतसिंह ने कहा

प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें : जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ

सा विद्या या विमुक्तये

● फटक चंद गिरधारी

शास्त्रों में कहा गया है, कटु सत्य नहीं कहना चाहिए। लू शुन ने भी कड़वा सच बोलने के दुष्परिणामों से आगाह किया है और बचने की तरकीब भी बताई है।

पर मेरे मित्र राधेमोहन जी इन सलाहों को नहीं मानते। आम तौर पर सत्य के प्रति वे उतने आग्रही नहीं, जितने कटु सत्य के प्रति। जब भी किसी स्थिति का वर्णन प्रिय-मधुर सत्य-सम्भाषण के रूप में चलता रहता है, राधेमोहन जी किसी दुर्निवार आंतरिक प्रेरणा के वशीभूत उसके दूसरे पहलू पर प्रकाश डालने लगते हैं।

भाई जी से उसकी लाग-डॉट चलती ही रहती है। इतवार की सुबह मेरा बैठका एक रणक्षेत्र में तबदील हो जाता है। राधेमोहन जी को उस दिन दफ्तर नहीं जाना होता। सो वे सुबह सात बजे ही आकर डट जाते हैं और भाई जी की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

पिछले इतवार को भाई जी आए तो विद्यार्थियों में बढ़ती उच्छृंखलता से काफ़ी क्षुब्ध-कुपित थे। राधेमोहन जी का कहना था कि यह युगों-युगों का किस्सा है। वृद्ध पीढ़ी को युवा पीढ़ी धृष्ट-उद्दण्ड प्रतीत होती है।

भाई जी बोले, “नहीं बंधु ! अभी देखिए, लों कालंज में छात्रों ने अपने शिक्षक को ही पीट दिया...” फिर भाई जी ने शिक्षकों की प्रताङ्गना-अवमानना की घटनाओं की चर्चा की, इसका दोष पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव को दिया और ‘गुरुब्रह्मा-गुरुर्विष्णु...’ से लेकर ‘गुरु-गोविन्द दोऊ खड़े...’ तक दर्जनों दोहे और श्लोक गुरु महिमा के पक्ष में सुना डाले।

पर राधेमोहन जी ने गुरु या शिक्षक को अवधारणा को ही प्रश्नचिह्नों के कटघरे में खड़ा कर दिया। उन्होंने कहा, “जो शिक्षक नामधारी प्राणी सरकारी स्कूलों-कालेजों-विश्वविद्यालयों में या सेटों-साहूकारों-मिशनरियों के निजी स्कूलों में पढ़ाते हैं, वे तो महज वेतनभोगी कर्मचारी हैं। वे सामाजिक प्रगति के मिशन या किसी आदर्श से प्रेरित होकर नहीं पढ़ाते, बल्कि पापी पेट का गड्ढा भरने के लिए ‘मास्टर साहब’ बन गये हैं। वे क्या पढ़ाते-बताते हैं, इससे उनको कोई मतलब नहीं। वे पाठ्यक्रम से बँधे होते हैं और उसके औचित्य-अनौचित्य पर प्रश्न उठाने के लिए भी स्वतंत्र नहीं होते। इसमें दोष उनका नहीं है, बल्कि सामाजिक व्यवस्था का है। पर यदि कोई शिक्षक ‘गुरु-धर्म’ की मर्यादा निभाना ही चाहे तो निभा सकता है। वेतनभोगी के रूप में क्लास की पढ़ाई की झूटी बजाने और परीक्षाभिमुख अध्यापन का काम सम्पन्न करने के बाद वह छात्रों को जीवन

और समाज के बारे में सही शिक्षा दे सकता है। उन्हें न्याय, समानता जैसे आदर्शों के लिए जीने और मरने की शिक्षा दे सकता है। पर ज्यादातर शिक्षक तो अभी भी औपनिवेशिक “मास्टर साहब” (यानी मालिक साहब) की मानसिकता से ग्रस्त हैं। छात्रों से वे असम्पूर्ण रहते हैं या उन्हें अपनी प्रजा समझते हैं। स्वयं अपने कैरियर में तरकीब के लिए जी-हुजूरी और टिकड़ी में करते हैं। जात-पाँत की राजनीति और मैनेजमेण्ट या प्रशासन की गणेश-परिक्रमा करते हैं। छात्र उनका सम्मान क्यों करें? राष्ट्रीय आंदोलन में शिक्षकों की अच्छी-खासी संख्या ने शानदार भूमिका निभाई थी। छात्रों ने दिल से उनका सम्मान किया। जो शिक्षक अंग्रेजी-सत्ता के जी-हुजूरिये थे, छात्र उनसे नफरत करते थे। बताइए, आज शिक्षक छात्रों को अन्याय, भ्रष्टाचार से लड़ने की शिक्षा क्यों नहीं देते? शिक्षा बिक रही है, जिसकी औकत हो, खरीद। शिक्षक इस शिक्षा-नीति के विरोध में संगठित होकर छात्रों को सही ढंग की राजनीति करने की सोदाहरण शिक्षा क्यों नहीं देते?

वे छात्रों को क्यों नहीं बताते कि देश में बीस करोड़ युवा बेरोजगार क्यों हैं? जो शिक्षक यह करंगा, वही सच्चा शिक्षक होगा और यकीन मानिए भाईजी, बहुसंख्यक आम छात्र उनकी बहुत कद्र करेंगे।

भाई ने कमजोर-सा प्रतिवाद किया, “फिर भी मर्यादा एक चीज होती है, विनम्रता एक चीज होती है....”

राधेमोहन जी बीच में ही काटकर बोल पड़े, “मर्यादा की सीमा सुपरिभाषित होनी चाहिए। मर्यादा की दुहाई देकर असंतोष के उफान को नहीं रोका जा सकता। विनम्रता ठीक है, पर इसके नाम पर पूरी कौम के युवाओं को बछिया के ताऊ बनने की नसीहत नहीं दी जा सकती। जो सामाजिक अराजकता और बुटन युवाओं को उद्वेलित कर रही है, उसे समझना होगा, हमदर्दी के साथ। अच्छा आप कहते हैं कि विद्या देने वाले की इज्जत करना विद्यार्थी का धर्म है। विद्या क्या है? शास्त्रों में ही कहा गया है, “सा विद्या या विमुक्तये।” यानी विद्या वह होती है जो मुक्त करती है। ऐसी विद्या जो भी दे, वही शिक्षक है और आदर-सम्मान का पात्र है। पर जो विद्या हमारे समाज में दी जाती है वह महज चाकरी करने के लिए होती है। वह मुक्त नहीं करती, गुलाम बनाती है। ऐसी विद्या तो वास्तव में विद्या ही नहीं है। जो गुलामी की शिक्षा दे, वह भला आदर-सम्मान का अधिकारी कैसे हो सकता है? इसलिए भाईजी, शास्त्रोक्तियों

(पेज 18 पर जारी)

राष्ट्रीय संस्कृति के लिए शिक्षा

● नूगी वा थ्योंगो

केन्या के प्रसिद्ध लेखक नूगी वा थ्योंगो अपने जनपक्षधर लेखन के कारण केन्याई शासक वर्गों की आँखों में हमेशा चुभते रहे। अपने लेखन के कारण उन्हें कई बार गिरफ्तार किया गया और वह वर्षों तक जेल में रहे। 22 वर्षों का निवासिन झेलकर पिछले वर्ष वह अपने बतन वापस लौटे थे। केन्याई जनता ने अपने व्यारे लेखक को सिर-आँखों पर बिटाया मगर जालिम शासकों को अभी तसल्ली नहीं हुई थी। नूगी के वापस आने के कुछ दिन बाद ही 11 अगस्त को नूगी और उनकी पत्नी पर हमला किया गया। पतनशील शासक वर्गों की सड़न का अंदाजा इस बात से चलता है कि हमलावरों ने 58 वर्षीय नजीरी के साथ बलात्कार किया। उन्होंने नूगी को पीटा, सिगरेट से जलाया और उनके घर में लूटपाट मचायी। इसी से पता चलता है कि शासक वर्गों के मन में नूगी की जगाने वाली कलम का भय किस कदर समाया हुआ था। इस जघन्य अपराध की निन्दा के लिए हमारे पास शब्द नहीं हैं। इस हादसे के बाद भी नूगी और नजीरी टूटे नहीं और इस हमले के खिलाफ संघर्ष करते रहे। हम उनके इस संघर्ष और कभी हार न मानने की जिद को तहे-दिल से सलाम करते हैं।

नूगी ने भाषाई गुलामी के खिलाफ व्यापक रूप से लिखा है और भाषा तथा संस्कृति के धरातल पर साम्राज्यवाद की हरकतों को कारगर ढंग से बेनकाब किया है। उन्होंने उपनिवेश रहे देशों की जनता के जागरण के लिए मातृभाषा की महत्ता पर रोशनी डाली है। हम यहां उनकी पुस्तक 'भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता' के 'राष्ट्रीय संस्कृति के लिए शिक्षा' नामक अध्याय का एक अंश दे रहे हैं।

-सम्पादक

जनता की संस्कृति उन मूल्यों की बाहक होती है जिनका निर्माण किसी समुदाय विशेष द्वारा अपने आर्थिक और राजनीतिक जीवन के दौरान किया जाता है। मूल्यों से मेरा अभिप्राय सही और गलत (नैतिक मूल्य), अच्छा और बुरा (आचरण संबंधी मूल्य) तथा सुंदर और असुंदर (सौंदर्यपरक मूल्य) की उनकी अवधारणा से है।

जिन मूल्यों को वे अपनाते हैं वे उस समुदाय की चेतना के हैं, उनकी विश्व-दृष्टि के हैं, उनकी खुद की सामूहिक और निजी छवि के अर्थात् उस समुदाय के व्यक्तित्व के आधार हैं, एक ऐसे जन के रूप में उनकी पहचान है जो खुद को तथा विश्व के साथ अपने संबंधों को एक खास तरीके से देखते हैं।

यह कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है जो आर्थिक ढाँचे द्वारा राजनीतिक तथा अन्य संस्थाओं के उदय के साथ और क्रमिक रूप से संस्कृति, मूल्य, चेतना और अस्मिता के उदय के साथ सुव्यवस्थित कदमों और छलांगों में घटित हो। ये प्रक्रियाएँ प्रायः कमोबेश साथ-साथ विकसित होती हैं जिसमें कोई एक प्रक्रिया एक ही समय में अन्य कई प्रक्रियाएँ पैदा करती है। यह कोई एक ही दिशा का बहाव नहीं है जिसमें यह कहा जाए कि आर्थिक जीवन राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन की ओर प्रवाहित हो जाता है। यह एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है। लोग अपने मूल्यों को, जिस तरह देखते हैं, वह उनके खुद को देखने के तरीके को प्रभावित करता है और इसी क्रम में यह उनके सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन तथा अंततः प्रकृति के साथ उनके संबंधों के नजरिये को प्रभावित

करता है। यह एक जाटिल प्रक्रिया है, जिसमें चीजें एक-दूसरे पर अपनी क्रिया द्वारा जो निर्मित करती हैं, उसे हम समाज कहते हैं।

इस समूचे विन्यास में शिक्षा की क्या भूमिका है? आदर्श रूप में कहें तो शिक्षा का अर्थ लोगों को उस विश्व का ज्ञान कराना है, जिसमें वे रहते हैं—उन्हें यह बताना है कि यह विश्व उन्हें किस तरह आकार देता है और वे किस तरह विश्व को आकार देते हैं। शिक्षा को एक ऐसी संस्कृति का संचारण करना चाहिए जो लोगों के मन में इस चेतना को अच्छी तरह बैठा दे कि मनुष्य अपनी श्रमशक्ति द्वारा अपने सामाजिक परिवेश का निर्माता है और जिस प्रकार वह प्रकृति पर प्रभाव डालकर उसे बुद्धल देता है, उसी प्रकार वह अपने सामाजिक परिवेश पर प्रभाव डालकर उसे बदल सकता है और इस प्रक्रिया में खुद को बदल सकता है। प्रारंभ में प्रकृति के साथ मनुष्य की मुठभेड़ उसे एक अबोधगम्य विरोधी शक्ति मान कर होती थी और यह क्रम तब तक चलता रहा, जब तक मनुष्य को प्रकृति के अदृश्य नियमों (मसलन गुरुत्वाकर्षण) की जानकारी नहीं हो गई और तब इसने इसपर काबू पाया और इसे अपना दास बना लिया। आज पूँजीवाद के अधीन एक विरोधी शक्ति के रूप में मनुष्य का सामाजिक परिवेश मनुष्य से मुठभेड़ करता है। अंतिम तौर पर इसके छुपे नियमों को जान लेने के बाद वह इस पर विजय पा लेता है, इससे आगे बढ़ जाता है और फिर एक नए मानव के लिए एक ऐसे नए विश्व की रचना करता है, जिसमें सामाजिक और प्राकृतिक दोनों परिवेश मनुष्य के गुलाम होते हैं। शिक्षा को चाहिए कि वह

लोगों के अंदर इस बात का विश्वास पैदा करे कि वे इस पृथ्वी पर एक नया स्वर्ग बना सकते हैं।

लेकिन हम किस तरह की शिक्षा की बात कर रहे हैं? शिक्षा का हथियार किन हाथों में है, इस पर बहुत सारी बातें निर्भर करती हैं, क्योंकि शिक्षा का इस्तेमाल यथार्थ को उजागर करने की बजाय यथार्थ को ढाँपने के लिए, मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंधों को रहस्यमय बनाने के लिए भी किया जा सकता है। डिकेन्स ने अपने उपन्यास 'हार्ड टाइम्स' में बहुत स्पष्ट रूप में दिखाया है कि किस प्रकार यथार्थ को रहस्यमय अथवा प्रायः दुरुह बनाने के लिए शिक्षा का इस्तेमाल किया जा सकता है। यह कहानी एक स्कूल की है, जिसे किसी औद्योगिक नगरी में मिस्टर टामस ग्रैण्डग्राइंड चलाते हैं। स्कूल में लोगों को तथ्यों के अलावा और कुछ भी नहीं पढ़ाया जाता है ताकि वे 'मानव प्रकृति, मानवीय संवेगों, आकांक्षाओं और आशंकाओं, संघर्षों और पराजयों, सुखों और दुखों तथा आम पुरुषों-महिलाओं के जीवन और मृत्यु' का लेकर अर्चर्भित होनेवाली आदत से हमेशा के लिए छुटकारा पा सकें। स्कूल में दो पात्र हैं सिसी ज्यूप और ब्लिंतजर। सिसी ज्यूप नामक लड़की बचपन से घोड़ों के बीच रही है क्योंकि उसके पिता सर्कस में काम करते हैं। इसके विपरीत, ब्लिंतजर ने कभी कोई घोड़ा देखा ही नहीं है। कक्षा में मिस्टर ग्रैण्डग्राइंड ने सिसी ज्यूप से कहा कि वह घोड़े की परिभाषा बताए पर इस अचानक किए गए सवाल से उस लड़की की समझ में ही नहीं आया कि घोड़े को कैसे परिभाषित करे और वह जबाब देने में असमर्थ रही। टामस ग्रैण्डग्राइंड ने यह ऐलान करने के बाद कि वह लड़की घोड़े जैसे 'एक अत्यंत साधारण जानवर की परिभाषा नहीं बता सकी', अब ब्लिंतजर नामक उस लड़के से घोड़े का वर्णन करने को कहा जिसने कभी घोड़ा देखा भी नहीं हो सकता।

लड़का खड़ा हुआ और उसने बड़ी बहादुरी के साथ घोड़े की परिभाषा बताना शुरू किया जिसे उसने किताबों से याद किया था—'चार पैरों वाला, घास खाने वाला, चालीस दाँतों से लैस जिनमें से चौबीस चबाने वाले दाँत.... आदि आदि।'

अध्यापक ने लड़की की ओर मुखातिब होकर कहा : “अब तो तुम जान गई कि घोड़ा किसे कहते हैं।”

लेकिन वास्तव में और व्यवहार में उस लड़की सीसी ज्यूप को घोड़ों के बारे में सारी जानकारी है न कि ब्लिंतजर को। लड़की को घोड़े की वास्तविकता मालूम है क्योंकि उसने उसे छुआ है, चारा खिलाया है, उस पर सवारी की है और उनके बीच रही है। ब्लिंतजर घोड़े को केवल शब्दों के माध्यम से जानता है, उसके दिमाग में एक अमूर्त तस्वीर है। यहाँ शिक्षा का इस्तेमाल यथार्थ को रहस्यमय और दुरुह बनाने के लिए किया जा रहा है।

ऐसा क्यों है? अगर हम अपने परिकल्पित मानव समुदाय अथवा समाज की ओर पलट कर देखें तो हम पाएँगे कि आर्थिक ढाँचा एक वर्गीय ढाँचा भी है, जिसमें कुछ लोगों का उत्पादन साधनों और इस प्रकार उत्पादक शक्तियों(मानव

श्रम-शक्ति, श्रम के उपकरण, कच्चा माल और प्राकृतिक संसाधन) पर स्वामित्व है, जबकि अन्य लोगों का इन साधनों पर स्वामित्व नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो अपने जीवन साधनों के उत्पादन के दौरान प्रकृति के साथ क्रियाशील होने की प्रक्रिया में लोग उत्पादन के लिए अलग-अलग स्थितियों में खड़े दिखाई देते हैं। उत्पादन के संबंध, मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और उत्पादन शक्तियों (श्रम तथा श्रम के उपकरण तथा श्रम के पदार्थ) के बीच समानता के संबंध नहीं हैं बल्कि ये संबंध प्रायः शोषक तथा शोषित, उत्पीड़क तथा उत्पीड़ित के संबंध हैं। दास प्रथा वाले समाज में दासों के मालिकों के पास सब कुछ होता था। सामन्ती समाज में कुलीन घरानों के लोग जमीन के मालिक होते हैं और किसान काश्त पर लेकर उनके खेत जोतते हैं। एक पूँजीवादी समाज में पूँजी के स्वामी के पास उत्पादन के सभी साधनों का स्वामित्व होता है और मजदूर के पास केवल श्रमशक्ति होती है। फिर भी गुलाम, किसान या मजदूर ही सभी तरह का उत्पादन करते हैं, वही उस समाज के लिए सम्पदा तैयार करते हैं और अपने पसीने से उत्पादित इस संपदा के वितरण पर उनका नियंत्रण नहीं रहता। चौंक इस तरह के समाजों में आर्थिक ढाँचा एक वर्गीय ढाँचा भी होता है इसलिए राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी संस्थाओं पर इस या उस वर्ग की मुहर लगी होती है। शिक्षा और संस्कृति इन वर्गीय विभेदों को उस समाज की आर्थिक बुनियाद में व्यक्त करती है। दरअसल शिक्षा और संस्कृति वर्गीय शिक्षा और वर्गीय संस्कृति होती है।

इस प्रकार वर्गों के अस्तित्व वाले समाज में अथवा ऐसी स्थिति में जहाँ एक राष्ट्र या नस्ल या वर्ग पर दूसरे राष्ट्र या नस्ल या वर्ग का प्रभुत्व है, वहाँ कोई ऐसी निष्पक्ष शिक्षा नहीं हो सकती जो किसी निष्पक्ष संस्कृति का प्रसार करे। किसी उत्पीड़क वर्ग अथवा राष्ट्र अथवा नस्ल के लिए शिक्षा उत्पीड़न का उपकरण होती है अर्थात वह मौजूदा समाज व्यवस्था को बनाए रखने का उपकरण होती है, जबकि संघर्षशील वर्ग, नस्ल अथवा राष्ट्र के लिए यह मुक्ति का उपकरण बन जाती है अर्थात यथास्थिति के समाजिक रूपान्तरण का हथियार बन जाती है। इस तरह के वर्गीय समाजों में दरअसल दो तरह की शिक्षा के बीच भीषण संघर्ष चलता है जो दो परस्परविरोधी संस्कृतियों का प्रसार करती है और दो परस्परविरोधी चेतना अथवा विश्वदृष्टि अथवा विचारधाराओं की वाहक हैं।

मैं इसे और स्पष्ट करना चाहूँगा। मान लीजिए ख के ऊपर क बैठा हुआ है। ख ही क को ढोता है, उसे खाना खिलाता है और कपड़े देता है अब क किस तरह कि शिक्षा ख को देना चाहेगा? दूसरे शब्दों में कहें तो किस तरह की संस्कृति और वैचारिक चेतना से वह ख को लैस करना चाहेगा? क चाहेगा कि ख को ऐसी शिक्षा दी जाए जिससे ख के लिए यह समझना मुश्किल हो जाए कि वही क को ढो रहा है, उसका पालन-पोषण कर रहा है और उसे कपड़े-लत्ते दे रहा है। क चाहेगा कि ख को ऐसे दर्शन का ज्ञान कराया जाए जो यह बताता हो कि दुनिया बदलती नहीं है। क यह चाहेगा

कि ख को ऐसा धर्म पढ़ाया जाए जो उसे बताये कि यह स्थिति भगवान द्वारा प्रदत्त है और इसके लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता है अथवा यह बताए कि ख जो मुसीबतें उठा रहा है वह इसलिए क्योंकि उसने पूर्वजन्म में बहुत पाप किए हैं। अथवा यह बताए कि ख को यह सोचकर अपनी किस्मत पर संतोष करना चाहिए कि स्वर्ग में उसे सारे सुख मिल जाएँगे। धर्म—कोई भी धर्म—क के लिए बहुत लाभाप्रद है क्योंकि यह ऐसी शिक्षा देता है कि जिन स्थितियों में ख के ऊपर क सवारी गाँठ रहा है, वे स्थितियाँ मनुष्य द्वारा पैदा नहीं की गई हैं, वे ऐतिहासिक नहीं हैं। इसके विपरीत यह प्रकृति का एक सर्वमान्य नियम है जिसको ईश्वर की स्वीकृति मिली है। क यह चाहेगा कि ख के मन में यह बैठ जाए कि उसकी कोई संस्कृति नहीं है या अगर कोई संस्कृति है तो वह बहुत हीन है। इसलिए क की कोशिश यह होगी कि वह ख को एक ऐसी संस्कृति से लैस करे जो उसके अंदर आत्मसंदेह, आत्मनिन्दा के मूल्यों को यानी गुलाम चेतना को विकसित करे।

अब वह क को एक संस्कृति वाला व्यक्ति समझेगा। संक्षेप में कहें तो क चाहेगा कि ख को ऐसी शिक्षा दी जाए जिससे उसमें अपनी इस वास्तविक स्थिति की समझ पैदा न हो सके कि उसके ऊपर क क्यों बैठा है अथवा उसे इस स्थिति के ऐतिहासिक मूल कारणों की जानकारी न हो सके। साथ ही क ऐसी संस्कृति भी प्रदान करना चाहेगा जो ख के अंदर दासता के मूल्यों, दास मानसिकता और इसी तरह के विश्व दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित करे। ऐसा करके ख को अपने अधीन रखा जा सकता है। क केवल इतना ही नहीं चाहता कि ख उसका गुलाम बना रहे बल्कि यह भी चाहता है कि गुलाम बने होने को वह अपनी किस्मत का लेख मान ले।

दूसरी तरफ ख उस दर्शन को चाहेगा जो उसे बताए कि हर चीज में परिवर्तन होता है, कि परिवर्तन प्रकृति का और मानव समाज का एक सहज नियम है। वह उस धर्म को गले

**मृत्यु से उतना मत डरो जितना कि
अपर्याप्त जीवन से!**

— बेटौल्ट ब्रेष्ट

लोग जिस चीज में विश्वास करते हैं उस पर प्रायः अमल नहीं करते हैं। वे वह करते हैं जो सुविधाजनक है, फिर पछाते हैं।

**— बॉब डिलन (मशहूर अमेरिकी
गायक)**

तुम नए महासागरों की खोज तब तब नहीं कर सकते जब तक तुममें किनारे को नजरों से ओझल करने का साहस नहीं हो।

— अज्ञात

लगा लेगा जो यह शिक्षा देता हो कि कुछ लोगों के ऊपर कुछ लोगों के बैठने की प्रणाली ईश्वर के नियम के विरुद्ध है। हो सकता है ख अपने अतीत का पुनर्मूल्यांकन करना चाहे और इस प्रक्रिया में उसे पता चले कि वह हमेशा गुलाम नहीं था। इसलिए वह उस शिक्षा को गले लगायेगा जो उसे स्पष्ट रूप से यह बताए कि उसकी मौजूदा तकलीफें इतिहासजन्य हैं—प्राकृतिक नहीं, जो उसे यह बताए कि यह स्थिति मनुष्य द्वारा तैयार की गयी है इसलिए मनुष्य इसे बदल भी सकता है। ख उस संस्कृति को गले लगायेगा जो उसके अंदर आत्मविश्वास और अपने पर गर्व करने के मूल्यों को स्थापित करे, ऐसे मूल्यों को स्थापित करे जिनसे उसे साहस मिलता हो और यह धारणा पुष्ट होती हो कि अपनी मौजूदा तकलीफों से छुटकारा पाने के लिए वह कुछ कर सकता है। संक्षेप में कहें तो ख ऐसी शिक्षा चाहेगा जो उसे न केवल उसकी मुसीबतों का ज्ञान कराए बल्कि उसके अंदर मुक्ति की चेतना, आजादी के लिए लड़ने की चेतना पैदा करे।

अब यह संभव है कि क और ख अनिवार्य रूप से उस तरह की शिक्षा, संस्कृति और विश्वदृष्टि के प्रति सजग न हों जो वे चाहते हों। लेकिन सच्चाई यह है कि ऐसी शिक्षा प्रणाली है, जो इस तरह की संस्कृति प्रदान करती है जो क की स्थिति के अनुरूप चेतना लिए हुए हैं और एक इस तरह की शिक्षा पद्धति जो ख की स्थिति के अनुरूप हो। शिक्षा, संस्कृति और विश्वदृष्टिकोण के दो तरह के होने से एक घातक संघर्ष चलता रहता है क्योंकि क की लगातार कोशिश है कि ख गुलाम चेतना को अपना ले ताकि क शांतिपूर्वक ख का शोषण जारी रख सके। लेकिन ख भी एक ऐसी शिक्षा विकसित करने के लिए संघर्ष कर रहा है जो उसे मुक्त कराने की संस्कृति प्रदान करे और पूरे आत्मविश्वास के साथ क को अपने ऊपर से उठाकर फेंक दे।

घोषणापत्र : प्रपत्र 1

पत्रिका का नाम	- आह्वान कैम्पस टाइम्स
प्रकाशन का स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशन अवधि	- वैभासिक
प्रकाशक/स्वामी का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर', कल्याणपुर, गोरखपुर
मुद्रक का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर' कल्याणपुर, गोरखपुर
संपादक का नाम	- कविता/अधिनव
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- बी-100, मुकुद विहार, करावल नगर, दिल्ली

मैं, आदेश सिंह, एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सत्य ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

हस्ताक्षर
आदेश सिंह
प्रकाशक/मुद्रक/स्वामी

दिनांक : 31.1.2005

जन्म-शताब्दी वर्ष के अवसर पर

मनुष्य की सत्ता की गरिमा, प्रकृति, प्रेम और जन मुकित संघर्षों का महाकवि पाल्लो नेरुदा

इन दिनों पूरी दुनिया के विभिन्न हिस्सों में स्पेनिश भाषा के महाकवि पाल्लो नेरुदा (1904-1973) के जन्म-शताब्दी वर्ष के अवसर पर आयोजनों का सिलसिला जारी है। चीले में पैदा हुए पाल्लो नेरुदा न केवल पूरे लातिन अमेरिकी कविता के महान कवि माने जाते हैं, बल्कि उनका सूजन विश्व-कविता की बहुमूल्य विरासत का हिस्सा माना जाता है। पाल्लो नेरुदा की कविता जनता के जीवन की अतल गहराइयों से ऊपर उठी कविता है, वह आम लोगों के प्यार और संघर्ष की, आशा और निराशा की संधन अभिव्यक्ति है और समूची बीसवीं शताब्दी के महान संघर्षों के गर्भ से उपजी कविता है।

नेरुदा बन्द अध्ययनकक्षों के प्राणी नहीं थे। जनता के जीवन और संघर्षों में भागीदारी उनकी कविता की शक्ति है। वे सच्चे अर्थों में जनता के कवि



थे नेरुदा की आरंभिक प्रेम-कविताएँ मानवीय गरिमा की अर्थर्थना और अदम्य जिजीविषा की कविताओं के रूप में पूरे लातिन अमेरिका से लेकर स्पेन तक में प्रशसित हुईं। निकारागुआ के महान कवि रूबेन दारियो और अमेरिकी कवि बाल्ट हिटमैन की परम्परा को आगे विस्तार देते हुए नेरुदा ने आधुनिकतावाद और अवांगार्द कविता के एक विशिष्ट लातिनी अमेरिकी संस्करण का निर्माण किया। इस नयी साहित्यिक शैली ने आत्मिक जगत की नई गहराइयों को उद्घाटित करने के साथ ही बीसवीं शताब्दी के महाकाव्यात्मक जन मुकित संघर्षों की युयुत्सा और नये सामाजिक यथार्थ को अनुठाई और प्रभावी अभिव्यक्ति दी। लातिन अमेरिकी देशों में जारी साम्राज्यवाद और तानाशाही-विरोधी जन मुकित-संघर्षों ने प्रकृति और प्रेम के कवि को इतिहास-बोध से लैस एक अनुठाई राजनीतिक कवि में ढाल दिया।

स्पेनी गृहयुद्ध में (1936-1939) में फ्रांको की फासिस्ट सत्ता के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में भागीदारी ने नेरुदा की कविता को नई ऊर्जास्त्री से भर दिया। नाट्सी फौजों के विरुद्ध सोवियत जनता के महान संघर्ष ने उन्हें मुकितकामी जनता की

अजेयता और समाजवाद की शक्ति के प्रति गहरे विश्वास से भर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सोवियत जनता के शौर्यपूर्ण प्रतिरोध-संघर्ष को विषयवस्तु बनाकर उन्होंने कई बेजोड़ राजनीतिक कविताएँ लिखी। नेरुदा अब एक कम्युनिस्ट हो चुके थे और अन्तिम साँस तक उनकी यह वैचारिक प्रतिबद्धता अक्षुण्ण बनी रही।

कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य के रूप में पाल्लो ने विदेला की तानाशाही के दौरान खदान मजदूरों के बीच काम किया और सत्ता के कोप के चलते उन्हें देश भी छोड़ना पड़ा। 1973 में राष्ट्रपति अलेन्द्र की हत्या और तख्तापलट के बाद 11 सितम्बर को सैनिक तानाशाह पिनोशो सत्तारूढ़ हुआ और इसके ठीक बारह दिनों बाद नेरुदा का निधन हुआ। उनको श्रद्धांजलि देने के लिए

आयोजित जनसभा स्वतःस्फूर्त हांग से सैनिक तानाशाही के विरुद्ध प्रतिरोध सभा में तबदील हो गयी। उनकी कविताओं पर प्रतिबन्ध और उनके घर को स्मारक बनाने देने से रोकने की हर चन्द कोशिश के बावजूद पिनोशो की सत्ता के विरुद्ध उनकी कविताएँ जनता के हाथों में हथियार का काम करती रहीं।

पाल्लो नेरुदा ने कला और ऐतिहासिक परिवर्तन की शक्तियों के बीच समान रूप से मौजूद तत्वों की शिनाख की और एक ऐसे सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण किया जो उन शक्तियों के पक्ष में खड़ा था। वे प्रेम, प्रकृति, जिजीविषा, युयुत्सा, लोकसमृद्धियों और भविष्य-स्वज्ञों का संश्लेषण करने वाले प्रयोगधर्म कवि थे। वे कवि होने के साथ ही एक राजनीतिक कार्यकर्ता और एक सांस्कृतिक संगठनकर्ता भी थे। जनता का जीवन और उसके संघर्ष कविता की शक्ति के अक्षय स्रोत थे। कलावादियों द्वारा अपनाये जाने और विरूपीकरण की तमाम कोशिशों के बावजूद पाल्लो की कविता जनता की विरासत बनी रहेगी और दुनिया भर के परिवर्तनकामी युवा उससे बेझन्त हाँ प्यार करते रहेंगे।

पाठ्लो नेहरू की एक कविता

मैं कुछ चीजें समझाता हूँ*

(कवितांश)

तुम पूछोगे : कहाँ हैं बकायन के पौधे?
और पॉपी के फूलों का आच्छादित अध्यात्म?
और वह बारिश जो तुम्हारे शब्दों को अक्सर
छिप्रों और चिड़ियों से भर देती थी?

मुझ पर जो बीतती है, सब बताता हूँ।

मैं रहता था माद्रीद के एक मुहल्ले में
घण्टियों, घड़ियों, पेड़ों के साथ।

वहाँ से दीखता था
स्पेन का सूखा चेहरा
जैसे चमड़े का एक समुद्र।

मेरा घर कहलाता था
फूलों का घर, क्योंकि चारों तरफ फूलते थे
जिरेनियम ही जिरेनियम:

वह एक खूबसूरत घर था
कुत्तों और बच्चों से भरा हुआ।

.....
और एक सुबह सब कुछ जल रहा था
और एक सुबह अलाव
जमीन से बाहर आये लोगों को लीलते हुए,
और तबसे आग,
बारूद तबसे
और तबसे रक्तपाता।

हवाई जहाजों और मूरों के साथ लुटेरे,
अँगूठियों और इयूक-पलियों के साथ लुटेरे,
काले लबादों में आशीर्वाद देते धर्मप्रचारकों के साथ
लुटेरे,

आसमान से आये बच्चों की हत्या करने
और सड़कों पर बच्चों का रक्त
दौड़ा महज बच्चों के रक्त की तरह।
गीदड़ जिन्हें गीदड़ भी दुतकारते,
पत्थर जिन्हें सूखा गोखरू थूकते-थूकते काटता,
जहरीले साँप जिनसे जहरीले साँप भी धूणा करते।

तुम्हारे ही सामने मैंने देखा है
स्पेन के रक्त को उफान लेते हुए
तुम्हें गौरव और चाकुओं की
एक ही लहर में डुबोते हुए।

धोखेबाज जनरलों :
मेरे मेरे हुए घर को देखो,
तहस-नहस स्पेन को देखो :
बलिक प्रत्येक मेरे हुए घर से फूलों के
बजाय जलती धातु निकल रही है
बलिक स्पेन के हरेक गड्ढे से
स्पेन ही आ रहा है बाहर,
बलिक हरेक मृत शिशु से आँखों वाली बन्दूक निकल
रही है,
बलिक हरेक जुल्म से पैदा हो रही हैं गोलियाँ
जो एक दिन ढूँढ़ लेंगी
कहाँ पर हैं तुम्हारा दिल।

तुम पूछोगे कि तुम्हारी कविता
हमें क्यों नहीं बतलाती
नींद, पत्तियों के बारे में, तुम्हारी मातृभूमि के
भीषण ज्वालामुखियों के बारे में ?
आओ और देखो सड़कों पर बहता लहू,
आओ और देखो
सड़कों पर लहू,
आओ और देखो लहू
बहता हुआ सड़कों पर।

*पाठ्लो नेहरू की इस प्रसिद्ध कविता की विषय-वस्तु स्पेन में फासिस्टों द्वारा बर्बर दमन और नरसंहार है। दुनिया के तमाम मानवद्रोही फासिस्ट आतताइयों के विरुद्ध यह कविता आज भी अदम्य प्रतिरोध की एक अनेश्वर अनुग्रांज के समान है।

एक नौजवान की आत्मकथा

● कपिल स्वामी, दिल्ली

जो हाँ, ये मेरी आत्मकथा है। एक नौजवान की आत्मकथा। जिंदगी में एक खास मोड़ आने से पहले, मैंने अपने आपको नौजवान मानना बंद कर दिया था। और मेरी यह सोच ठीक ही थी क्योंकि उस समय 25 साल का होने के बावजूद मैं दिमागी तौर पर बूढ़ा हो चुका था। मैं एक टूटा हुआ, खण्डित आत्मविश्वास वाला और उत्साह उमंग से खाली व्यक्तित्व था। मेरी बातों, व्यक्तित्व और चालढाल तक से एक निराश भरा बुढ़ापा झलकता था। लेकिन मैं हमेशा से ऐसा नहीं था मैंने भी अपने बचपन में खूब शरारतें की। तब उत्साह और मस्ती पर सवार में हवा में उड़ा करता था। मैं एक निम्नमध्य ययवर्गीय चार बच्चों वाले परिवार में सबसे बड़ा लड़का था। मैं पढ़ाई में काफी होशियार समझा जाता था। घर, मोहल्ले से लेकर स्कूल तक मुझे एक ज़हीन छात्र माना जाता था। लोग कहते थे कि शायद ये कुछ बन जाएगा। अपनी काबिलियत और लोगों की प्रशंसा ने मुझे कल्पनालोक में विचरण करने की जमीन दी। 12वीं कक्षा तक आते-आते मैं एक बड़ा आदमी बनने, ऊँचा ओहदा पाने और एक सुखमय जीवन जीने का सपना देखने लगा। मुझे अपनी जिंदगी और परिवार की मजबूरियाँ, भविष्य में समाप्त होती दिखाई देती थी। प्राइवेट स्कूल और दृश्योदान की फीस के लिए मां-बाप की जोड़-तोड़, वर्दी और जूतों की मांग को अगले महीने पर टालते जाने की लाचारी, और आर्थिक परेशानियों के कारण होने वाली घर में चख-चख के बीच भी मैंने अपना हौसला बनाए रखा। मुझे याद है कि कैसे मैं पुराने साफ़ कागजों को सिल कर कॉपी बना लेता था जिस पर मेरे दोस्त हँसा करते थे। लेकिन इन सब परिस्थितियों ने मुझे और भी ज्यादा दूढ़ किया कि मैं। एक बेहतर जिंदगी पाने की लड़ाई पुरजोर तरीके से लड़ूँ।

लेकिन जिंदगी सपनों जितनी हसीन नहीं होती। 12वीं करने बाद मेरे सामने दो रास्ते थे पहला या तो किसी कॉलेज से ग्रेजुएशन, पोस्ट ग्रेजुएशन करूँ और किसी विशिष्ट क्षेत्र में जाऊँ या फिर तत्काल कोई व्यावसायिक कोर्स करके नौकरी पकड़ूँ और साथ में कॉर्सेंडेन्स से पढ़ाई जारी रखूँ। इच्छा होते हुए भी घर की परिस्थितियों के कारण दूसरे रास्ते को पकड़ने के सिवा कोई चारा न था। चूंकि 'कंप्यूटर का ज़माना है' इसलिए माँ-बाप ने किसी तरह एक छोटे से निजी संस्थान में दाखिल करा दिया। क्योंकि इससे ज्यादा पैसा देने की हमारी हैसियत भी नहीं थी। उस संस्थान में लगभग 9 महीने में डी०टी०पी० का काम सिखाया गया। मैंने खूब मन लगाकर मेहनत से सीखा। लेकिन यह क्या? कोर्स खत्म करके नौकरी के लिए जब इंटरव्यू देने कई जगह गया तो पता लगा कि

संस्थान वालों ने तो व्यावहारिक ज्ञान कुछ दिया ही नहीं, और किताबी ज्ञान की कोई पूछ नहीं। सो कई जगह धक्के खाकर, थकहार कर बैठ गया। जिंदगी की तल्ख सच्चाईयों से मेरा सामना शुरू हो चुका था। किशोरवस्था के हसीन सपने धीरे-धीरे काफ़ुर हो रहे थे। लेकिन तब भी अपनी काबिलियत पर भरोसा कायम था।

बाद में किसी तरह मौसाजी ने किसी प्रकाशक की बड़ी खुशामद करके मुझे काम पर लगवाया। तनखावाह तय हुई सिर्फ 1200 रु०-कारण यह कि मुझे काम सिखाना पड़ेगा। मैंने सोचा, चलो कुछ तो मिलेंगे और फिर सीख कर ज्यादा कमा सकूँगा। अंसारी रोड के उस प्रकाशक ने मुझसे जल्द ही आफिस का सारा काम कराना शुरू कर दिया। मुझे कंप्यूटर पर फॉर्डिंग के अलावा आफिस में पानी भरना, टेलीफोन, बिजली के बिल जमा करवाना, यहाँ तक कि किताबों के भारी-भारी बंडल दूसरे प्रकाशकों/वितरकों के पास दौड़कर ले जाने पड़ते थे। मतलब कि प्राइवेट नौकरी की सारी मजबूरियाँ-मुश्किलों को झेलना होता था। तब भी मन में उम्मीद थी कि एक बार काम सीख जाऊँ तो अच्छी नौकरी करूँगा। पर ये भ्रम भी धीरे-धीरे जाता रहा। डी०टी०पी० के अच्छे जानकारों को भी 34 हजार तक ही मिल पाते हैं। इतने पैसों में अगर दिल्ली जैसे शहर में आय पर पूरे घर की जिम्मेदारी हो तो घर सिर्फ घिस्ट सकता है, चल नहीं सकता। मेरा मालिक मुझसे खूब जमकर काम करवाता और सिखाने के नाम पर टाल जाता। वहाँ पर ड्यूटी 11 घंटे करनी पड़ती, छूटी के नाम से ही मालिक को एलर्जी थी। कभी डॉटेकर, तो कभी प्यार से वह काम करवाता था। जब मुझे समझ आया कि ऐसे तो जिंदगी भर खटने पर भी न तो कभी कुछ सीख पाऊँगा और न ही एक ठीक-ठाक जिंदगी जी सकूँगा तो मन में बेचैनी पैदा हो गयी। अपनी सारी काबिलियत अच्छी पढ़ाई सब बेकार नजर आने लगी। मुझे लाचार बेबसी भरे अंधकारमय भविष्य के सिवा कुछ दिखाई नहीं देता था। इस स्थिति में निकलने की सूरत में ज्यादा से ज्यादा यह हो सकता था मेरी तनखावाह 1800-2000 रु० हो जाए और कोई कम कूर मालिक हों, पर तब भी घर की परेशानियाँ तो यथावत ही रहेंगी। हालाँकि ये भी इतना आसान नहीं हैं। जान-पहचान के बिना कोई आफिस में घुसने नहीं देता। आस-पड़ोस के लोग या रिश्तेदार भी बेरोजगार लड़कों को सिवाय झूठे आश्वासनों के कुछ नहीं देते। नतीजतन थक-हारकर वही नौकरी करने की मजबूरी बाकी बचती है। अब तक मेरा आत्मविश्वास काफी हिल चुका था मुझे अपने पैरों के नीचे जमीन खिसकती दिखाई पड़ रही थी।

इसी कशमकश के बीच घरवालों के कहने पर मैंने शादी कर ली कि चलो कुछ मानसिक राहत मिलेगी कोई दुखदर्द बाँटने वाला सच्चा हमदर्द मिलेगा। मेरी पत्नी बास्तव में ऐसी ही है। एकदम सुशील, आज्ञाकारी पत्नी। उसने आते ही मेरे साथ घर की दिक्कतों को भी सहज ढंग से अपना लिया।

तकलीफों को चुपचाप सहने की आदत डाल ली। आर्थिक परेशानियों के चलते उसने काम करने की इच्छा जाहिर की लेकिन मध्यवर्गीय अंहकार और समाज के डर ने घरवालों और मुझे ये फैसला लेने नहीं दिया।

कई जगह धक्के खाकर आज मैं एक जगह प्राइवेट नौकरी कर रहा हूँ। तनख्ताह 2200 रु० हो गयी है। किसी तरह गुजारा पूरा होता है। बूढ़े माँ-बाप, पत्नी और तीन छोटे भाइयों की पढाई का खर्च पहाड़ सा जान पड़ता है। सही है कि परिस्थितियाँ चेतना का निर्माण करती हैं। परिस्थिति समझकर(मुझसे)छोटा भाई भी 12वीं करके प्राइवेट नौकरी करने लग गया है। यहाँ तक आते-आते मेरे सारे सपने, सारी महत्वाकांक्षायें खत्म हो चुकी थीं। 13-14 घंटे की थकान से दिमाग बेतरह थक जाता। दिमाग लगभग संज्ञाशून्य हो गया था। कहीं मन नहीं लगता था। कुछ समझ नहीं आता था कि इतनी बड़ी जिंदगीं ऐसे हालात में कैसे गुजर पाएगी। आगे के सारे रास्ते अँधेरी सुरंग के समान लगते थे जिनपर सिर्फ चुपचाप चला जा सकता था, जो कहां, कब खत्म होंगे कुछ पता नहीं। अपनी काबिलियत का सही उपयोग न कर पाने पर खीझ होती थी। इस बदहाली से लड़ने का विश्वास पैदा नहीं कर पाता था। जिंदगी एक दर्द पर घिसटी हुयी जान पड़ती थी, जिसमें न रफ्तार है न ताकत। इन्हीं दिनों का मैने शुरू में जिक्र किया है कि तब मैं अपने आपको नौजवान नहीं मानता था। मेरी नौजवानी की जगह असमय आए बुदापे ने ले ली थी।

यहाँ तक मेरी आत्मकथा आम शहरी मध्यवर्ग के लाखों परिवारों के करोड़ों नौजवानों की जिंदगी की तरह साधारण और सामान्य है। जैसा मेरे साथ हुआ वैसा तो कईयों की जिंदगी में होता ही है लेकिन मेरी आत्मकथा वही पर खत्म नहीं होती बल्कि इसके बाद मेरी जिंदगी में एक खास मोड़ आया जहाँ से मेरी जिंदगी एकदम बदल गयी।

बात सन् 2000 के विश्व पुस्तक मेले की है। मैं अपने मालिक के काम के सिलसिले में वहाँ गया था। काम पूरा होने के बाद मैंने सोचा कि जब यहाँ तक आया ही हूँ तो विश्व पुस्तक मेले का जायजा लेते हुए चलता हूँ। तभाम चमक-दमक लिए व्यावसायिक स्टॉलों और तरह-तरह के अच्छे-बुरे साहित्य के बीच से मैं यूँ ही ख़्यालों में खोया गुज़र रहा था इतने में एक स्टॉल पर मुझे कुछ लोग नज़र आए जो किसी प्रकाशन के साधारण कर्मचारी नहीं लग रहे थे। वे करीब 20-25 नौजवान लड़के-लड़कियाँ थे जिन्होंने सिर पर लाल पट्टियाँ बांध रखी थीं और भगत सिंह के नारों वाले एप्रेन पहन रखे थे। न जाने कौन-सी ताकत थी जो मुझे उस स्टॉल की तरफ लेते गई। वहाँ पर भगत सिंह का और दुनिया भर का क्रांतिकारी साहित्य का मौजूद था। भगत सिंह से मैं भी उसी तरह प्रभावित था जिस तरह आम तौर पर लोग हुआ करते हैं—यानी एक स्वतंत्रा सेनानी, एक बहादुर, हेरोइक क्रांतिकारी की रूप में। स्टॉल पर खड़े एक नौजवान ने जब मुझे उत्सक्तापूर्ण निगाहों

से किताबें, स्टॉल और स्टॉल पर मौजूद लोगों को देखते पाया, तो मुझसे बातचीत शुरू की। उसने मुझे बताया कि भगत सिंह गोरी बुराई को काली बुराई से बदलने के लिए नहीं लड़ रहे थे, बल्कि वह हर किसी की बुराई और किसी भी रूप में मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के खिलाफ लड़ रहे थे। वह पूँजी की लूट पर टिकी व्यवस्था को ही खत्म कर आम मेहनतकश आबादी का राज लाने की लड़ाई लड़ रहे थे। और इसलिए आज भी उनकी लड़ाई और सपने अधूरे हैं जिन्हें पूरा करने की जिम्मेदारी इतिहास ने मेहनतकशों के बीर सपूत्रों के कन्धों पर रखी है। यह स्टॉल भी ऐसे विचारों को व्यापक आबादी तक पहुँचाने के लिए लगाया गया है। मैं इस सच्चाई को तो व्यावहारिक तौर पर जानता ही था कि आज धन्नासेठों का राज है और मेहनतकशों और आम मध्यम वर्ग के नौजवान अगर योग्य भी हों तो भी उनकी कोई पूछ नहीं होती। उस नौजवान, जिसने बाद में अपना नाम तरुण बताया, से लम्बी बातचीत के बाद मुझे भी लगा कि मेरे, और मेरे जैसे करोड़ों आम नौजवानों के बेरोजगारी, महँगाई, अशिक्षा और भ्रष्टाचार से ब्रस्त जीवन का मूल कारण यह पूँजीबादी व्यवस्था है। तरुण ने और भी कई बातें बताई जिनमें से कुछ मेरे सिर के ऊपर से भी गई, लेकिन स्पिरिट मुझ तक पहुँच गई थी। मैंने कुछ किताबें लीं, तरुण के साथ पत्तों का आदान-प्रदान किया और बिदा ली। तरुण ने मुझे बताया कि देश के कई हिस्सों में ऐसे ही नौजवान बदलाव के विचारों को फैला रहे हैं। फिर तरुण से मिलने का एक सिलसिला शुरू हो गया। मैं धीरे-धीरे उसके संगठन से भी जुड़ गया और कामों में भागीदारी शुरू कर दी। मेरी जिंदगी का ढंग-ढर्हा ही बदलने लगा। अपने अंदर की ऊर्जा और गुस्से को अब मैं एक रचनात्मक दिशा दे पा रहा था। मैं अपने अंदर एक नया जोश, नई उम्मीद और उमंग महसूस करने लगा था। मुझे अपना रास्ता मिल गया था। मैंने जैसे-तैसे जिंदगी जीने, नहीं काटने, के रास्ते को छोड़कर जिंदगी को बदलने का रास्ता पकड़ लिया था, ताकि इसे जीने लायक बनाया जा सके।

अब मेरे अंदर की वह बेबसी खत्म हो गई थी जिससे मेरे नौजवान होने के अहसास को ही मार दिया था और मुझे 25 साल का बूढ़ा बना दिया था। अब एक बार फिर से मैं नौजवान हो चुका हूँ और ऐसा नौजवान जो कभी बूढ़ा नहीं होगा।

सेवा या उद्योग? अरे नहीं!

सेवा उद्योग!!

● गीतिका, इलाहबाद

यूँ तो कहा जाता है कि 'सेवा' को 'मेवा' से दूर रखो, लेकिन प्रशासन सेवा के बदले रोटी का एक टुकड़ा देने की

नीति लागू कर रहा है। प्रशासन में बैठे मदारियों का कहना है कि 'आपको नौकरी चाहिए? ठीक है! थोड़ी-सी सेवा कीजिए, थोड़ा-सा पैसा लीजिए और अपने मामूली सपनों को भी पूरा कीजिए और हमारे शोषण की व्यवस्था की उम्र को भी लम्बा कीजिए!' वैसे भी मीडिया ने हमें जो सपना दिया है वह आजकल के एक गीत में अच्छी तरह अभिव्यक्त होता है - 'मुझे मिल जाए जो थोड़ा पैसा... चाहे जैसा...'। बेरोजगारी से नाउम्हीद नौजवानों की भारी जमात के गुस्से की नोक इस व्यवस्था की ओर न मुड़े इसके लिए व्यवस्था उनके सामने यह प्रस्ताव रख रही है कि 'अपने इस छोटे-से सपने को पूरा करो और हमें चैन की बंसी बजाने दो'। अगर नौजवान इस व्यवस्था के विकल्प के बारे में सोचने लगे तो इस व्यवस्था के सभी मदारी तो गए काम से। इसलिए शिक्षा दी जा रही है - 'समाज सेवा करो और दो जून की रोटी कमाओ!'

'सेवा-सेवा' की मंजीरी और चिमटा बजाने के पीछे प्रशासन का असली मकसद यह है कि लोगों की सामूहिक चेतना को जगाने से रोका जा सके। उन पर सेवा, एन.जी.ओ पंथ, सुधारवाद के ठण्डा-सुंगठित स्प्रे डाला जा रहा है। गैरतलब है कि हाल ही में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष अरुण निवेगकर ने पत्रकारों को बतलाया कि बेरोजगारी के संकट को दूर करने के मकसद से स्नातक कार्यक्रम में सेवा उद्योग को एक विषय के रूप में शामिल किया जाएगा और जल्द ही परिसरों में इस सम्बन्ध में एक निश्चित कार्यक्रम पेश किया जाएगा। ध्यान देने की बात यह है कि इस पूरे खेल में उद्योग जगत की प्रमुख हस्तियाँ भी भाग ले रही हैं।

ऐसा नहीं की भारत सरकार अपनी विनाशकारी नीतियों से युवाओं के सपनों को कुचलने में पीछे रही है। मगर फिर भी युवाओं के सपनों और चेतना के जागने के विचार से वह इतनी भयक्रांत है कि युवाओं को एकजुट होने से रोकने, उनकी संवेदनशीलता को कुंद बनाने, और उन्हें तार्किक होने से रोकने के लिए एक के बाद एक कदम बढ़ा रही है। गैर-सरकारी संगठनों को गैर सरकारी ढंग से पनपाने के बाद अब सरकार उनकी भर्ती के केन्द्रों को सेवा उद्योग विषय स्थापित करके व्यवस्थित करने का काम कर रही है। वह सेवा की कोमल भावना (जो विशेष रूप से एक इसानी गुण है) को इसलिए बढ़ावा दे रही है ताकि उसका इस्तेमाल एक सेफ्टी-वॉल्च के रूप में इस्तेमाल किया जा सके। 'सेवा' को एक उद्योग का दर्जा देने का क्या मतलब है? 'दुनिया की विच्युतियों से नफरत और उन्हें दूर करने की चाहत' को तब्दील कर दिया गया 'दुनिया की विच्युतियों से कमाई की भावना में'। जिनको भारत के बहादुर और इंसाफपंसद नौजवानों के क्रोध के प्रचण्ड आवेग से इस शोषक व्यवस्था के तहस-नहस हो जाने का इन्तजार है वे अब उन नौजवानों की सेवा का अंशदान से अपनी तकलीफों को कुछ देर के लिए भूल जाएँ-यही तो है सेवा की ढफली बजाने वालों की दोहरी चाल। इस चाल को समझना होगा और नाकाम करना होगा।

टूटते सपने, बिखरती उम्मीदें

● योगेश स्वामी, दिल्ली

हर नौजवान अपनी जिंदगी में कुछ बनने का सपना देखता है। सुधीर तेवतिया ने भी एक सपना देखा था - पत्रकार बनने का। लेकिन बागपत के किसान परिवार के इस नौजवान को शायद नहीं पता था कि वर्तमान व्यवस्था में कुछ बन पाने का सपना देखने का अधिकार केवल धनासेठों के बेटे-बेटियों को ही है। लेकिन फिर भी सुधीर सोचता था कि वह अपनी योग्यता के बल पर कुछ बन जाएगा। उसने सोचा कि पहले दिल्ली विश्वविद्यालय के किसी कॉलेज से पत्रकारिता की पढ़ाई की जाए और फिर इसी क्षेत्र में आकर अपने आप को सावित किया जाए। अपने सपने को हकीकत में बदलने के लिए सुधीर ने दि. वि. वि. के श्री गुरु तंग बहादुर खालसा कॉलेज (सांध्य) में दाखिला लिया। एक निम्न मध्यम वर्गीय परिवार से होने के कारण उसकी आर्थिक स्थित ऐसी नहीं थी कि वह दिल्ली में ही कमरा किराये पर ले कर रह सके। इसलिए उसे रोज कॉलेज आने के लिए बागपत से लगभग दो-ढाई घंटे का सफर तय करना पड़ता था। अपना आने-जाने का खर्च निकालने के लिए वह स्वयं एक 12वीं तक के प्राईवेट स्कूल में पढ़ाया करता था। प्रथम वर्ष की फीस उसने किसी से उधार ले कर दी थी जिसका पैसा फसल कटने पर चुकाया जाना था। लेकिन प्रथम वर्ष पूरा होते ही उसके कुछ बन पाने के सारे सपने टूट गए। इसलिए नहीं कि उसमें पत्रकार बनने की योग्यता नहीं थी। अपनी प्रथम वर्ष की पढ़ाई से उसने सावित कर दिया था कि उसमें एक पत्रकार बनने की योग्यता व प्रतिभा है। लेकिन इसकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसके पास पैसा नहीं। इस साल कॉलेज द्वारा फीस, 7,710/- रु० से बढ़ाकर 11,000/- रु० कर दी गई, यानी फीस में लगभग 35 फीसदी की बढ़ातरी। इतनी फीस दे पाना उसके बस की बात नहीं थी। अखिरकार उसने कॉलेज छोड़ने का फैसला किया। कोर्स से जुड़े अध्यापक और कॉलेज प्रशासन जानतां था कि वह क्यों कॉलेज छोड़ रहा है। लेकिन उनसे किसी भी प्रकार की उम्मीद व्यर्थ थी। सुधीर बापस अपने गांव लौट गया। इस देश की 70 फीसदी जनता से आने वाले छात्र नौजवान हर वर्ष सुधीर की तरह ही कुछ बनने का सपना लिए विश्वविद्यालय में आते हैं। लेकिन जल्दी ही उनके सपने टूट जाते हैं। मध्यम वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक के नौजवानों को अच्छी तरह समझ लेना होगा कि इस व्यवस्था में उच्च शिक्षा उनके लिए नहीं है। उनके लिए सिर्फ उतनी ही शिक्षा है कि वह एक मजदूर बन सके। ऐसी स्थिति में क्या नौजवानों को सपने देखना छोड़ देना चाहिए! नहीं, कर्तृ नहीं! आज युवाओं को चाहिए कि वह कैरियरवादी सपनों को छोड़कर नए समाज को बनाने का सपना देखें। एक ऐसा समाज जहाँ शिक्षा और रोजगार मूलभूत अधिकार हो। मँहगी होती शिक्षा और रोजगार के घटते अवसर इस पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। इसलिए बिना व्यवस्था को बदले कैरियर को लेकर बनाए गए हर बड़े सपने का टूटना निश्चित है। कुछ

बड़ा बनने का सपना पैसे की माँग करता है। जबकि एक नए समाज को बनाने का सपना नौजवानों के त्याग, बलिदान और समर्पण की माँग करता है।

‘आई ऐम नॉट गुड ऐट हिन्दी यू नो!!’ क्या वाकई!

● सरगम, दिल्ली

मैं अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम कुछ समय पहले तक ज्यादातर अंग्रेजी को बनाया करती थी। मैं कहा करती थी कि मैं हिन्दी में नहीं लिख सकती। समाज के एक खास हिस्से में स्थान पाने के लिए मैं बड़े टशन के साथ ये वाक्य बोलती थी—‘माई हिन्दी इज नॉट वेरी गुड’ या ‘आई कान्ट राइट इन हिन्दी, यू नो!’ लेकिन आज अगर सच्चे मन से कहूँ तो ऐसा नहीं था। मैं हिन्दी में सोच भी सकती थी, बोल भी सकती थी और लिख भी सकती थी। उस ‘हाई सोसायटी’ की सोहबत और सुरुर में मुझे भी धीरे-धीरे यह यकीन हो चला था कि मेरी हिन्दी अच्छी नहीं है। नतीजतन, बहद सोच समझकर मैंने हिन्दी में लिखना और पढ़ना छोड़ दिया। दिल्ली विश्वविद्यालय में अंग्रेजियत एक स्टेटस सिम्बल है और इसी के कारण मैं भी अंग्रेजियत में रंग गई। और करेले पर नीम यूँ चढ़ा कि मैं सिडनी शेल्डन, लुडलुम, डेनीज़ स्टील और इसी श्रेणी के अन्य टुच्चे अंग्रेजी उपन्यासकारों के घटिया उपन्यास पढ़ने लगी जिन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉलेजों के छात्र बड़े चाव से पढ़ते हैं। ये उपन्यास जिस समाज का चित्रण करते हैं वह भारत के आम युवाओं के सामने कभी मूर्त रूप में नहीं उतरता और एक स्वप्नलोक के समान होता है जिसकी अफीम के नशे में वह जीने लगते हैं। जिन्दगी की सच्चाइयों, त्रासदियों से अपने को काट लेते हैं। इन किताबों का बुरा असर मानसिक स्थिति पर तो पड़ता ही है ये भाषा को भी चौपट कर देती हैं। कुल मिलाकर ये सपनों की हत्यारी होती हैं।

बहरहाल, इससे पहले कि ये किताबें मुझे पूरी तरह तबाह कर पातीं इतेकाक से मुझे अंग्रेजी की क्लासिकीय रचनाओं को पढ़ने का चस्का लग गया। लेकिन जो छात्र अभी भी इन किताबों के इन्ड्रजाल में हैं वे धीरे-धीरे समाज से कटते जाते हैं। उन्हें समाज की बुराइयाँ तो नज़र आती हैं मगर उन्हें ठीक करने की फुरसत उनके पास नहीं होती। वे अपने सड़कछाप उपन्यासों के नायकों की तर्ज पर अपने बल पर धन और ताकत हासिल कर लेने की फिराक में रहते हैं। उसके लिए वे किसी को भी टाँगड़ी मारना या उसको सीढ़ी बनाकर ऊपर चढ़ना अपने तेजतर्रर होने की निशानी मानते हैं न कि पशुवत् होने की निशानी।

अब आते हैं भाषा पर उपन्यासों के बुरे प्रभाव पर। ये उपन्यास अंग्रेजी की गन्दी गालियों से रंगे होते हैं जिनका

प्रयोग आपको ‘आधुनिक’ बनाता है। दूसरे, ये उपन्यास बेड सीन्स और पतित और रुग्न किस्म की सेक्स-सम्बन्धी चर्चाओं से भरे होते हैं जो आम युवाओं में तमाम कुण्ठाओं और वर्जनाओं को जन्म देती हैं।

इनके आलावा कुछ खास शब्दों का इस्तेमाल आपको ‘हिप एण्ड हैपेनिंग’ बनाता है। जैसे विश्वविद्यालय के पीछे के बाजार कमला नगर को कमला नगर नहीं बल्कि ‘के नैग्स’ बोलें, रिक्षा को रिक्षा नहीं बल्कि ‘रिक’ बोलें, गुलाब जामुन को गुलाब जामुन नहीं बल्कि ‘जी जैम्स’ बोलो। अगर आप ऐसा करते हैं तो आप निम्न प्रकार का एक वाक्य बोलने में अपने आपको सक्षम पाएंगे—‘टेक ए रिक टू के नैग्स एण्ड हैव जी जैम्स!!!’।

चाहे हिन्दी हो या अंग्रेजी, भाषा के साथ ऐसा खिलवाड़ अवाञ्छित माना जाएगा। एक अन्य भद्रा मजाक जो भाषा के साथ होता है वह है शब्दों का लघुरूप बनाना—जैसे ‘के 3 जी’ (कभी खुशी कभी गम), ‘आए एच टी डी एम’ (रहना है तेरे दिल में) आदि। यह भाषा का अपमान है और एक खास वर्ग का इस पर एकाधिकार स्थापित करने का प्रयास भी।

यह सारी चीजें कुल मिलाकर एक ऐसा माहौल रचती हैं जिसमें जब कोई आप वर्ग का छात्र अपने घर से दूर आता है तो कुण्ठित हो जाता है। वह इस नए माहौल में घुल-मिल नहीं पाता क्योंकि वह सरकारी स्कूलों का पढ़ा होता है, बन्तू नहीं होता, भाषा को तोड़-मरोड़कर नहीं बोलता, यानी कुल मिलाकर अजायबघर का प्राणी नहीं होता। नतीजतन, वह अपने आपको कम सक्षम समझने लगता है।

इस अजायबघर को खत्म करने की ज़रूरत है, न कि उसका हिस्सा बनाने की। जो अपनी भाषा बोलते हैं उन्हें गर्व करना चाहिए न कि शर्म। उनकी पहचान किसी विदेशी भाषा पर नहीं बल्कि अपनी भाषा पर निर्भर करती है। इस तरह उनका पूरा बजूद, उनकी पहचान अमरीका की नकल और उधार की भाषा और सोच पर नहीं निर्भर करती बल्कि अपने देश की भाषा पर निर्भर करती है।

महँगी होती स्वास्थ्य सुविधाएँ और जान गँवाते ग़रीब

● पवन, दिल्ली

सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं की बदतर हालत यूँ तो कोई छुपी हुई बात नहीं है लेकिन कुछेक घटनाएँ इस तार-तार होते जनकत्याणकारी राज्य की नंगई को और ज्याद बेपर्द कर देती हैं। ऐसी ही एक घटना इस देश की राजधानी के एक प्रमुख अस्पताल में पिछले दिनों घटिय हुई। 4 सितंबर 2004 को राष्ट्रीय सहारा के मुख्य पृष्ठ पर छपी खबर के अनुसार अपने खराब हृदय वाल्व का आपरेशन कराने दिल्ली आए त्रिलोक

चंद ने आपरेशन का बिल 50000 रुपए देखकर उसे न चुका पाने की असमर्थता से उपजी निराशा में अस्पताल की सातवीं मजिल से कूदकर अपनी जान दे दी।

त्रिलोकचंद सिकंदरादाबाद (बुलंदशहर) के रामखेड़ा गाँव का रहने वाला था। वह छोटी-मोटी नौकरी करता था। 3 बच्चों वाले परिवार में गुजारा जैसे-तैसे चलता था कि हृदय की बीमारी ने उसे आ धेरा। किसी तरह जुगाड़ लगाकर कानपुर स्थित ई-एसआई अस्पताल में उसका इलाज चालू हुआ। इलाज के दौरान उसका परिवार गहरी आर्थिक समस्याओं में उलझ गया। चूंकि आजकल सरकारी अस्पतालों में केवल डाक्टर और बेड की फीस नहीं ली जाती बाकी सबकुछ जैसे दवाइयाँ, महँगी जाँच, यहाँ तक कि आपरेशन के बक्त काम आने वाले सर्जिकल उपकरणों का खर्च भी मरीज के घरवालों से वसूला जाता है। इनसब में त्रिलोकचंद कर्जों में उलझ गया। लेकिन परेशनियों ने अभी उसका पीछा नहीं छोड़ा था। कानपुर में आपरेशन के बाद डाक्टरों ने उसे दिल्ली जाकर आपरेशन कराने की सलाह दी। किसी तरह हिम्मत करके वह पत्नी और छोटे भाई के साथ आकर दिल्ली के गोविंदवल्लभपंत अस्पताल में दाखिल हो गया। यहाँ उसका 27 अगस्त को सफल आपरेशन हुआ और वह तेजी से ठीक भी होने लगा। लेकिन अस्पताल प्रशासन द्वारा उसे लगभग 50000 रुपए का बिल तुरंत जमा कराने का आदेश दिया गया। पहले से कर्ज में फँसा त्रिलोकचंद इतने पैसे देने की स्थिति में नहीं था सो उसने और उसकी पत्नी ने चिकित्सक अधीक्षक, निदेशक आदि से गुहार लगाई, उन्हें शुल्क माफ करने की काफी मिन्टों की गयी लेकिन बैअसरा। उन्हें सीधे बिल जमा करने का टका-सा जवाब दे दिया गया। इसी ऊहापोह में 3 सितंबर की सुबह जब उसकी पत्नी सुबह का नाश्ता लेने गयी तो त्रिलोकचंद ने वह फैसला लिया जो असहायता और गहन निराशा के अन्धकार में डूबा व्यक्ति ले सकता है। उसने अस्पताल की 7 वीं मजिल से कूद कर अपनी जान दे दी। और देश की स्वास्थ्य सेवाओं की गरीब लोगों के लिए सार्थकता पर एक करारा तमाचा भी मार दिया।

त्रिलोकचंद की मौत कई सवाल खड़े करती हैं। क्या गरीब को बीमारी का इलाज नहीं मिलना चाहिए? क्या मरीज को पैसों के अभाव में मरने के लिए छोड़ देना चाहिए? क्या सरकारी अस्पतालों में भी 50000 जैसी बड़ी राशि का बिल मरीज से वसूला जाना चाहिए? अगर हाँ, तो इस देश की स्वास्थ्य सेवाएँ किस काम की? फिर सरकार का घोषित मुख्य काम शिक्षा, स्वास्थ्य आदि बताए जाने का झूठा ढोंग क्यों? फिर सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च होने वाले हजारों करोड़ रुपयों की क्या उपयोगिता?

वैसे भूमंडलीकरण और निजीकरण के इस दौर में सरकार स्वयं शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि देने के काम से खुले तौर पर पीछे हट रही है। पिछले दिनों प्रकाशित एक रपट में भारत में स्वास्थ्य के क्षेत्र में निजी क्षेत्र की बढ़ती भागीदारी और सरकारी क्षेत्र की घटती भागीदारी को दर्शाया गया था। साफ है कि वर्तमान व्यवस्था में बीमार पड़ना भी एक अपराध

बन गया है जिसे करने से गरीब आदमी बच ही नहीं सकता! यह भी साफ है सरकार अपने आपको अब शिक्षा स्वास्थ्य देने वाले जनकल्याणकारी राज्य के बजाय आर्थिक गतिविधियों को अंजाम देने वाली एक कार्पोरेट कंपनी के रूप में काम करता देखने को उत्सुक है और बस दिशा में अग्रसर है। और करेले पर नीम यूँ चढ़ा कि सुप्रीम कोर्ट के हालिया फैसले के तहत डाक्टर द्वारा लापरवाही से मरीज को पहुँची क्षति से के खिलाफ आपराधिक मुकदमा दर्ज कराना बहुत मुश्किल बना दिया गया है। क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि सरकारी अस्पतालों के लापरवाह डाक्टर लापरवाही करने को अब कितना स्वतंत्र हो गए हैं? यह इस व्यवस्था के मुराखोर, मुनाफाखोर और कफनखसोट चरित्र को और उजागर करता है।

टंगड़ी मार आगे बढ़!!

● गीतिका, इलाहाबाद

जब बच्चा पैदा होता है तो समाज में अपनी स्थिति के प्रति सचेत नहीं होता। प्रकृति भी उसके अमीर या गरीब होने के आधार पर उसके साथ भेदभाव नहीं करती। भेदभाव तब शुरू होता है जब वह मानव-रचित समाज में प्रवेश करता है। यह अच्छा है, यह बुरा है; यह बड़ा है, वह छोटा; यह ऊँचा, वह नीचा; यह अच्छा है, वह बुरा; यही अपने चारों ओर देखता-सुनता और गुनता-बुनता बड़ा होता है। नतीजतन, उसमें पैदा होती है प्रतियोगिता। प्रतियोगिता एक स्वस्थ समाज में भी होगी। लेकिन चूंकि वहाँ कोई भी बेहतर क्षमता किसी का निजी मालिकाना नहीं होगी इसलिए जो किसी मामले में प्रतिभावान होगा वह अपनी योग्यता का उपयोग समस्त समाज के प्रगति के लिए करेगा और अगर ऐसा होगा तो उस मामले में उससे कम योग्य व्यक्ति उससे जलेगा नहीं, न ही कोई अस्वस्थ प्रतियोगिता करेगा। और इस प्रकार वह उसकी उन्नति को अपनी अवनति नहीं बल्कि पूरे समाज की उन्नति समझेगा।

लेकिन पूँजीवादी समाज योग्यता की कसौटी को ही इतना संकरा बना देता है कि एक अस्वस्थ प्रतियोगिता का पनपना लाजिमी है। कोई व्यक्ति अगर सिविल सर्विसें, इंजीनियरिंग, डॉक्टरी आदि की तैयारी न करे तो वह अक्षम हो जाता है। वह इस काम में नाकाम तो हर काम में नाकाम। तो क्या हुआ कि वह अच्छा गा सकता है, कविताएँ लिख सकता है, या चित्र बना सकता है? चूंकि ये योग्यताएँ पूँजीवादी समाज में हावी पिटी-पिटाई, घिसी-घिसाई लीक से मेल नहीं खातीं इसलिए इन्हें योग्यता माना ही नहीं जाएगा। जो रटन्त विद्या में माहिर तोता न बन सके वो अक्षम। यह रुझान बच्चों में बचपन से डाला जाने लगता है और उपदेश दिया जाता है कि 'जो इस घिसी-पिटी लीक पर चले, वे श्रेष्ठ थे। तुम भी श्रेष्ठ बनो।' बच्चे के दिलों-दिमाग को ये उपदेश इस कदर हाँ-ट करते हैं कि वह अपनी सभी इच्छाएँ, चाहतें, सपनें दबा जाता है और कुछ समय बाद एक वैसा ही बुझी आँखों और पीले चेहरे वाला नौजवान बनकर सामने आता है, जो आई.ए.एस., पी.सी.एस.,

इन्जीनियर, डॉक्टर आदि बनने की रुग्ण पूँजीवादी प्रतियोगिता में अपने आपको घिसे जा रहा है, अपने जीवन से हताश है, और मौका मिलने पर किसी को भी सीढ़ी बनाकर ऊपर चढ़ने से नहीं चूकेगा।

वहीं एक ऐसे समाज की कल्पना कीजिए जहाँ सभी बच्चे अपनी-अपनी रुक्षानों और जिज्ञासाओं के अनुरूप इस अनोखी दुनिया को „जान-समझ रहे हैं, जिन्दगी के सौन्दर्य को यानी ‘श्रम’ को करना सीख रहे हैं और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार शिक्षित-प्रशिक्षित हो रहे हैं। ऐसे समाज ही सम्पूर्ण मानव का निर्माण कर सकते हैं।

लेकिन आज के समाज में इसके ठीक उल्टा होता है। बच्चा अपने किसी दोस्त से इसलिए चिढ़ने लगता है कि फलाँ क्षेत्र में उससे आगे है। यही स्वभाव एक मुकाम पर घटिया प्रतियोगिता की भावना में बदल जाता है, जो दूसरों के कधों पर पाँव रखकर चढ़ने और टंगड़ी मारने में अभिव्यक्त होती है। नौकरी हो या शोध संस्थान, दोनों ही जगह इसका असर दिखता है। अपना शोध करने की बजाय लोग दूसरों को ब्लैक-लिस्ट करने पर तुले रहते हैं। तमाम औद्योगिक संस्थानों में यह विभिन्न प्रकार की जालसाजियों के रूप में सामने आती है।

इस स्थिति का निवारण उस समाज में दिखता है जिसमें व्यक्ति मानवीय भावनाओं से लबरेज़ हो, लोगों में परस्पर विश्वास हो, हर व्यक्ति का सरोकार अपने व्यक्तिगत विकास से नहीं बल्कि समाज के छहुँमुखी विकास से हो जिसमें उसका विकास भी निहित होता है।

जहाँ हँसना भी सीखना पड़े..

● नमिता, डलाहाबाद

विज्ञान बताता है कि मनुष्य तीन क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से करता है—रोना, हँसना और गाना। हँसना—रोना—ये कोई किसी को सिखाता नहीं। लेकिन तमाम महानगरों में हमें एक ऐसी परिघटना देखने को मिल रही है जो हमें यह सोचने पर मजबूर कर रही है कि या तो विज्ञान गलत कहता है या फिर हम धीरे-धीरे इस मानवीय गुण को खो रहे हैं।

दिल्ली, मुम्बई, जैसे तेज गति वाले शहरों के पाकों में सबह जाएँ तो 15-20 या इससे भी ज्यादा लोगों का झुण्ड आपको ‘हो-हो, हा-हा’ करते हँसता मिल जाएगा। पूछने पर आप पायेंगे कि ये लोग बेवजह हँस रहे थे या हँसने के लिए हँस रहे थे। इस झुण्ड को ‘लाफिंग क्लब’ कहते हैं यानि—‘हँसोड सभा’। यहाँ बताया जाता है कि चूंकि हँसना स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है, इसलिए हँसो। सारे दुख, तकलीफ, तनाव भुलाकर हँसो। एक लाफिंग क्लब चलाने वाले सज्जन बताते हैं: ‘कि बिना हँसी के जीवन नीरस है। हम इसमें रस भरते हैं।’ बतीसा दिखाकर चौंतीसा (माल) ऐंठना ही इनका धंधा है। ओशो जैसा ठग देनी पड़ेगी कि वह खुद ही बोलता था कि ‘मैं अमीरों का दार्शनिक हूँ।’

लोगों को हँसाने के लिए जरूरी है कि हँसने की वजहें पैदा की जाएँ न कि हँसने का उपदेश दिया जाए। हँसने की वजह ऐसे समाज में ही हो सकती हैं जहाँ हर मनुष्य किसी भी प्रकार की गुलामी से मुक्त रहकर जी सके। एक ऐसा समाज बनाने की जरूरत है जिसमें किसी भी रूप में शोषण न मौजूद हो और लोग खुली हवा में खुले दिले से ठहाके लगा सकें।

यह भी एक मौजूँ सवाल होगा कि इन लाफिंग क्लबों में अधिकांशतः उच्च मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के लोग ही क्यों जाते हैं? हालाँकि सामान्य बोध से देखा जाए तो इन लोगों के सामने अस्तित्व का कोई सवाल नहीं खड़ा होता, लिहाजा गम्भीर होने की सबसे कम वजहें इनके पास होनी चाहिए। लेकिन नहीं। ऐसे में हमें मार्क्स का वह उद्धरण याद आता है जिसमें वह बताते हैं कि एक पूँजीवादी समाज में मुक्त पूँजीपति वर्ग और उच्च वर्ग भी नहीं होता। पूँजी 24 घण्टे उनकी पीठ पर सवार रहती है। यही कारण है कि बाथरूम, किचन और टॉयलेट तक में शेयर का हाल जानने के लिए फोन लगे होते हैं। हर घड़ी तनाव रहता है। कहाँ धंधा फल-फूल रहा है, कहाँ पैसा ढूब रहा है। उपक! कितना तनाव। ऐसे में तमाम रोग-व्याधियाँ इन लोगों को जकड़ती हैं। और इसी मौके पर अवतरित होते हैं तमाम बाबा, संत, महात्मा लोग जो हँसी के लाभ बताते हैं। और नतीजा होता है लाफिंग क्लब।

दूसरी ओर आम जनता जिसके पास वाकई तनावग्रस्त और गम्भीर रहने की वजहें हैं, वह अपने तमाम दुर्खाँ, तकलीफों के बीच भी हँस-गा-बोल लेती है। इन लोगों में कोई अलगाव नहीं होता। एक तो वैसे ही जीवन कठिनाइयों से भरा होता है, ऊपर से हँसने के मौके पर आदमी हँसे भी न, तो या तो वह पागल हो जाएगा या मर जाएगा। ऐसे लोगों को इन लाफिंग क्लबों में जाने की न तो ज़रूरत है और न वक्त। लाफिंग क्लब उच्च वर्ग के रूप, तनावग्रस्त, अलगाव से पीड़ित, कुण्ठित, तमाम ईर्ष्याओं में सिंक-भुन रहे मानस को ताल्कालिक राहत पहुँचाता है। अब यह एक दीगर बात है कि ओशो जैसे ठग और पाखण्डी जो परजीवी और दूसरों की मेहनत पर ऐसा करने में यकीन रखते हैं, यह फरमान सुना दें कि दुनिया मनोरोगी है। हालाँकि वह खुद ही मनोरोगी हैं। ओशो ने जो ‘खाओ-पियो-ऐशा करो’ का दर्शन दिया है उसे अफोर्ड सिर्फ धनी वर्ग करता है और इस मामले में उसकी साफगोई की दाद देनी पड़ेगी कि वह खुद ही बोलता था कि ‘मैं अमीरों का दार्शनिक हूँ।’

लोगों को हँसाने के लिए जरूरी है कि हँसने की वजहें पैदा की जाएँ न कि हँसने का उपदेश दिया जाए। हँसने की वजह ऐसे समाज में ही हो सकती हैं जहाँ हर मनुष्य किसी भी प्रकार की गुलामी से मुक्त रहकर जी सके। एक ऐसा समाज बनाने की जरूरत है जिसमें किसी भी रूप में शोषण न मौजूद हो और लोग खुली हवा में खुले दिले से ठहाके लगा सकें।

विलियम हिणटनः



क्रान्तिकारी
तूफानों
में ढली
एक
तूफानी
पिंडरी

पूँजीवादी मीडिया और भाड़े के कलम घसीटों के बिनौने दुष्प्रचारों के घटाटोप के बीच चीन की नवजनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति की ज़मीनी सच्चाइयों से पूरी दुनिया को परिचित कराने में, विगत शताब्दी के दौरान दो अमेरिकी बुद्धिजीवियों ने अग्रणी भूमिका निभायी थी। वे थे एडगर स्नो और विलियम हिणटन (1919-2004)। चीन के सन्दर्भ में इनकी भूमिका काफ़ी हद तक वैसी ही थी जैसी सोवियत समाजवादी क्रान्ति के सन्दर्भ में जॉन रीड, रीस विलियम्स और अन्ना लुइसस्ट्रांग की थी।

दुनिया भर की मुक्तिकामी जनता के पक्ष में लगातार उठने वाली और समाजवाद के भविष्य के प्रति लगातार अविचल आस्था का उद्घोष करने वाली यह बुलन्द आवाज़ गत 15 मई, 2004 को सदा के लिए चुप हो गयी। 'मथली रिव्यू' (जून, 2004) पत्रिका में प्रकाशित अपने श्रद्धांजलि-लेख में जॉन मॉगे ने विलियम हिणटन के बारे में यह बिल्कुल सही लिखा है : "स्पष्टवादी और भावनात्मक, फार्मर और क्रान्तिकारी, विलियम हिणटन का जीवन मार्क्सवादी क्रान्तिकारी व्यवहार का मूर्तिमान उदाहरण है। न सांस्कृतिक और न ही पीढ़ीगत फ़र्क उनके सीखने और सिखाने में कोई बाधा बन सके। उनके जैसा जियो।"

सचमुच विलियम हिणटन का समूचा जीवन विद्रोही और प्रयोगधर्म युवाओं के लिए एक अनुकरणीय आदर्श और प्रेरणा-स्रोत था।

वे सदा धारा के विरुद्ध जिये। वे अध्ययन-कक्षों के पीतवर्णी प्राणी नहीं बल्कि सामाजिक संघर्षों की प्रयोगशाला के कर्मी थे। वे क्रान्ति की धमनभठठी पर काम करने के आग्रही थे, न कि काग़ज़ी गणनाओं और मानविकों के अध्येता। वे अचिह्नित राहों के खोजी यायावर थे, एक ऐसे विश्व-नागरिक थे, जिनका हृदय पूरी दुनिया के मुक्तिकामी, उत्पीड़ित जनों के लिए धड़कता और धधकता रहता था। प्रतिक्रिया के घटाटोप में भी उनका क्रान्तिकारी आशावाद अक्षुण्ण बना रहा। यही कारण था कि उनकी मृत्यु का शोक दुनिया के हर देश के मुक्ति योद्धाओं ने, परिवर्तनकामी युवाओं ने और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने दिल की गहराई से महसूस किया।

अमेरिका में वकील पिता और शिक्षिका माँ के मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे हिणटन अपनी किशोरवस्था से ही बँधे-बँधाये ढर्ने पर जीने से घृणा करते थे। दुनिया के 'प्रत्यक्ष अनुभव' की उनमें अमिट भूख थी। हाई स्कूल में पढ़ते समय ही उन्होंने कनाडा में उस समय तक अविजित एक चोटी पर पर्वतारोहण किया और कॉलेज में प्रवेश से पहले एक पूरा साल देश में और देश के बाहर घुमकड़ी करते हुए बिताया। इस दौरान उन्होंने कप-प्लेट धोने और ईंटें साफ करने का, अखबार के संवाददाता का और जहाज़ पर मशीन-बॉय का काम किया। अपनी आखिरी नौकरी के दौरान वे जापान और वहाँ से उत्तर-पूर्वी चीन पहुँचे। इसके बाद सोवियत संघ और यूरोप का चक्कर काटते हुए एडगर स्नो की पुस्तक 'रेड स्टार ओवर चाइना' उनके हाथ लगी जिसने उनके जीवन की दिशा हमेशा के लिए बदल डाली। शान्तिवादी हिणटन मार्क्सवादी बन गये। उन्होंने मार्क्सवाद का गहन अध्ययन शुरू किया। अपने पूरे जीवन में उन्होंने एक फार्मर, फार्मरों के संगठनकर्ता, कृषि विशेषज्ञ, अखबारी संवाददाता, फिल्म निर्माता, राजनीतिक विशेषज्ञ और लेखक आदि अनेक रूपों में काम किया, लेकिन मुख्यतः वे अपने को एक मार्क्सवादी क्रान्तिकारी मानते थे।

1945 में विलियम हिणटन ने एक बार फिर चीन की यात्रा की। पुनः 1947 में संयुक्त राज्य राहत एवं पुनर्वास एजेंसी के साथ वे ट्रैक्टर टेक्नीशियन के रूप में

चीन गये। वहाँ उन्होंने कम्युनिस्ट-शासित उत्तरी चीन पहुँचकर वहाँ अंग्रेजी शिक्षक के रूप में रुके रहने का जुगाड़ भिड़ाया और फिर एक भूमि-सुधार वर्क-टीम में पर्यवेक्षक के रूप में शामिल होकर शानसी प्रान्त के लांग बो गाँव में जा पहुँचे। 1947 से 1953 तक लम्बे चीन-प्रवास के दौरान उन्होंने अधिकांश समय लांग बो गाँव में बिताया और “चीन के क्रान्तिकारी रूपान्तरण में, और कम से कम संख्या की दृष्टि से, अबतक के सबसे बड़े क्रान्तिकारी सामाजिक महापरिवर्तन में” सीधे भागीदारी करते हुए हजारों पने के नोट्स तैयार किये। अमेरिका वापस लौटकर अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने दो पुस्तकें लिखीं : ‘फानशेन’ और ‘आयरन ऑक्सन’। इनमें से दूसरी पुस्तक ‘फार्म मशीनों से सम्बन्धित थी, जबकि ‘फानशेन’ : डाक्युमेण्ट्री ऑफ रेवोल्यूशन इन ए चायनीज़ विलेज’ एक अनूठा, महाकाव्यात्मक शब्दचित्र था जिसके माध्यम से चीन के गाँवों में जारी समाजवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया से, स्थानीय पार्टी इकाई में जारी वैचारिक संघर्षों तथा दैनन्दिन जीवन के सुख-दुख और प्रचण्ड कठिनाइयों के बीच सब कुछ बदल डालने की किसानों की अदम्य इच्छा और दुर्दृष्ट प्रयासों से पहली बार पूरी दुनिया ठोस और जीवंत ढंग से परिचित हुई। स्वयं विलियम हिण्टन के अनुसार ‘फानशेन’ लोगों को इसलिए ज्यादा विश्वसनीय लगती है क्योंकि लोगों को लगता है कि मैं काल्पनिक लोगों के बारे में नहीं बात कर रहा हूँ बल्कि वे अपनी और अपने परिचितों की उसमें छवि देखते हैं। ‘फानशेन’ हिण्टन की स्वयं की उपस्थिति एक पर्यवेक्षक के रूप में नहीं बल्कि परिवर्तन की महान सामाजिक प्रक्रिया के एक पक्षधर भागीदार की है। गाँवों में भूमि सम्बन्धों के बदलाव लगातार जारी प्रक्रिया के साथ-साथ किसानों के जीवन और संस्कृति में आने वाले बदलावों की इन्द्राजी करते हुए हिण्टन ने सामाजिक क्रान्ति के यथार्थ का आदर्शकरण या रोमानीकरण करने की रंचमात्र भी कोशिश नहीं की। उन्होंने पार्टी कार्यकर्ताओं की गृलियाँ और भटकावों का, नयी चीज़ों के प्रति जनसमुदाय के शुरुआती सन्देह का और नयी जनवादी क्रान्ति के दौरान उत्पन्न होने वाली उन यथास्थितिवादी प्रवृत्तियों का भी विश्वसनीय चित्रण किया है जो समाजवाद के रास्ते पर अगे जाने के बजाय अपने विशेषधिकारों को कायम रखना चाहते थे। हिण्टन समाज और सामाजिक क्रान्ति की समस्याओं की अनदेखी के कायल नहीं थे। वे पार्टी या झान्तिकारीयों के दैवीकरण के विरोधी थे। उनका यह भी विचार था कि समाजवादी यथार्थवाद को ऐसा ही होना चाहिए।

चीन पर लिखी हिण्टन की सभी पुस्तकों में ‘फानशेन’ को सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। उसकी लाखों प्रतियाँ कुछ एक वर्षों के भीतर बिक गयी और दुनिया की दर्जनों भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ। उस पर आधारित नाटक यूरोप के कई शहरों में मंचित हुआ और उसे अत्यधिक लोकप्रियता मिली। लेकिन ‘फानशेन’ के प्रकाशन का उद्यम अपने आप में हिण्टन के लिए एक विकट संघर्ष सिद्ध हुआ। चीन से 1953 में वापसी के बाद पुस्तक के प्रकाशन में तेरह साल लग गये।

उस समय अमेरिका में मैकार्थीवाद का कम्युनिस्ट-विरोधी दौर जारी था जिसकी चपेट में चार्ली चैप्लिन, आइंस्टीन, ब्रेस्ट, पॉल रोबर्सन जैसी सैकड़ों विश्वप्रसिद्ध हस्तियाँ आ चुकी थी। अमेरिका पहुँचते ही हिण्टन के नोट्स को कस्टम अधिकारियों ने जब्त कर लिये जिन्हें वापस पाने के लिए उन्हें पाँच वर्षों लम्बी अदालती लडाई लड़नी पड़ी। पासपोर्ट जब्ती और आन्तरिक सुरक्षा-सम्बन्धी सीनेट उपसमिति के सामने पेशी जैसी तमाम प्रताड़िनाओं के बीच हिण्टन ने पूरे अमेरिका में घूम-घूमकर तीन सौ वक्तव्य दिये और लागों को चीनी क्रान्ति की सच्चाइयों से परिचित कराया। 1958 में नोट्स वापस मिलने के बाद पाँच वर्षों का समय ‘फानशेन’ की तैयारी में खर्च हुआ। लेकिन 1963 में पुस्तक जब तैयार हुई तो कोई भी अमेरिकी प्रकाशक उसे छापने को तैयार नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा 1966 में पॉल स्वीजी और उनके साथियों द्वारा संचालित ‘मंथली रिव्यू’ प्रेस ने यह पुस्तक प्रकाशित की और रातों रात यह पूरे देश में और फिर चन्द्र एक वर्षों के भीतर पूरी दुनिया में लोकप्रिय हो गयी।

‘फानशेन’ के अन्त में हिण्टन ने भूमि सुधार के बाद उठ खड़े हुए उन नये प्रश्नों और समस्याओं को भी रेखांकित किया, जिनका एकमात्र तर्कपरक समाधान खोती का सामूहिकीकरण ही हो सकता था। ‘फानशेन’ जब प्रकाशित हुआ, तब चीन के किसान माओ त्से-तुड़ के मार्गदर्शन में इस नये पथ पर अग्रसर हो चुके थे लेकिन “नयी जनवादी क्रान्ति के सुदृढ़ीकरण के बाद ही समाजवाद की राह पर आगे बढ़ने” का तर्क गढ़ते हुए ल्यू शाओ-ची के नेतृत्व में एक संशोधनवादी गुट पूँजीवाद का निर्माण करने की कोशिश में जुट गया था। इसका नतीजा था महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति (1966-76) के रूप में वर्ग संघर्ष का एक सर्वथा नया तूफानी विस्फोट। इस नयी क्रान्ति के दौरान माओ ने समाजवाद की समस्याओं का समाधान दूँठते हुए समाजवादी समाज में वर्ग संघर्ष के बुनियादी नियमों और आम दिशा का युगान्तरकारी प्रतिपादन प्रस्तुत किया। विलियम हिण्टन इन तूफानी वर्षों के दौरान एक बार फिर चीन में थे और एक महान क्रान्ति का साक्षी होने के साथ ही अपने पुराने परिचित लांग बो गाँव और ताचाइ में माओ त्से-तुड़ के प्रयोग के नतीजों का ज़मीनी स्तर पर अध्ययन कर रहे थे। इस दौरान प्रकाशित अपनी पुस्तकों ‘टर्निंग व्हाइट’ इन चाइना : एन एस्से ऑन दि कल्चरल रेवोल्यूशन’ (1972) तथा ‘हण्डुडे डे वार : दि कल्चरल रेवोल्यूशन एट सिनहुआ यूनिवर्सिटी’ (1972) में सांस्कृतिक क्रान्ति के सिद्धान्त और व्यवहार का व्योरा प्रस्तुत करते हुए हिण्टन ने माओ त्से-तुड़ की नीतियों का पुरजोर समर्थन किया।

इन वर्षों के दौरान के लांग बो गाँव और ताचाइ के अनुभवों पर आधारित हिण्टन की पुस्तक ‘शेनफान’ 1983 में जब प्रकाशित हुई, उस समय तक चीन में ल्यू शाओ-ची के वफादार चेले देंग सियाओं-पिड़ की रहनुमाई में पूँजीवादी पुनर्स्थापना का काम काफ़ी आगे बढ़ चुका था। हिण्टन माओ की मृत्यु के बाद हुए परिवर्तनों के कठु आलोचक थे, लेकिन ‘शेनफान’ में सांस्कृतिक क्रान्ति की नीतियों के प्रति भी उन्होंने

अंशतः आलोचना का ही रुख अपनाया। पूँजीवादी पथगमियों के विरुद्ध पूरे चीन में जारी संघर्ष की झलक लांग बो और ताचाइ में देखते हुए भी हिण्टन की नयी मान्यता यह थी कि सांस्कृतिक क्रान्ति का संघर्ष एक सैद्धान्तिक संघर्ष नहीं बल्कि एक गुटीय संघर्ष था और माओ के साथ भी अतिवामपंथीयों और कैरियरवादियों की जमातें खड़ी थीं जिसके चलते उस दौरान समाजवाद के क्षति पहुँचाने वाली गम्भीर गलतियाँ हुईं। लेकिन 1980 के दशक में जब फिर चीन जाकर वहाँ आ रहे बदलावों के अध्ययन का हिण्टन को अवसर मिला तो उनकी मान्यताएँ एक बार फिर बदल गयीं। 'मथली रिव्यू' में प्रकाशित अपने कई निबन्धों में उन्होंने नये सिरे से यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि समाजवादी निर्माण एवं क्रान्ति विषयक माओ की नीतियाँ सर्वथा सही थीं तथा चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना 1976 के बाद ल्यू शाओ ची की नीतियों पर अमल की तार्किक परिणति थीं। माओ की मृत्यु के बाद चीन में जारी पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया पर उनकी पुस्तक 'दि ग्रेट रिवर्सल : दि प्राइवेटाइजेशन ऑफ चाइना, 1978-89' 1990 में प्रकाशित हुई। 1989 में तियेन अॅन मेन चौक के नरसंहार के बाद चीन से उन्होंने पूरी तरह से अपना नामा तोड़ लिया लेकिन चीन के तथाकथित आर्थिक सुधारों की असलियत उजागर करते हुए तथा सांस्कृतिक क्रान्ति को बदनाम करने की कोशिशों को बेनकाब करते हुए वे लगातार लिखते रहे और विभिन्न देशों की यात्रा करते हुए व्याख्यान देते रहे। इसी दौरान

वे फरवरी, 1996 में भारत भी आये थे। इस दौरान लिखे गये हिण्टन के कुछ महत्वपूर्ण लेख 'चाइना: एन अनफिनिशड बैटल' (2002) नामक पुस्तक में संकलित हैं।

विलियम हिण्टन अमेरिका के उन गिने-चुने व्यक्तित्वों में वे एक थे जिन्होंने एशियाई 'ड्रैगन' के गर्भ में पल रहे नये समाज की बेकल उथल-पुथल को सबसे पहले पहचाना था और फिर समाजवाद के सिद्धान्तों को जिन्दगी की हकीकत में तबदील होते देखा था। वे एडगर स्नो, एग्नस स्मेडले और नॉर्मन बेथ्यून जैसे लोगों की कतार में शामिल थे जिन्होंने एक साम्राज्यवादी देश की धरती पर जन्म लिया लेकिन आजीवन तीसरी दुनिया के देशों में जारी जन मुक्ति संघर्षों के तूफानों से जुड़े रहे।

हिण्टन को आखिरी साँस तक यह विश्वास था कि पूरी दुनिया का संघर्षरत मुक्तिकामी जनसमुदाय एक न एक दिन महान क्रान्तियों की ऐतिहासिक पराजय की प्रक्रिया को उलट देगा और एक बार फिर प्रतिक्रान्ति की लहर पर क्रान्ति की लहर हावी हो जायेगी। अपना यह गहन विश्वास वह लगातार दूसरों तक पहुँचाने की कोशिश करते रहे कि मानवता के भविष्य के लिए, समाजवाद एक वस्तुगत आवश्यकता है।

हिण्टन का यह विश्वास इतिहास इक्कीसवीं शताब्दी में सही सिद्ध करेगा, इसी विश्वास के साथ जन-मुक्ति-समर के इस योद्धा को हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि!

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश ■ जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर ■ विजय इन्कामेंशन सेटर, कच्छरी बस स्टेशन, गोरखपुर ■ जनचेतना स्टाल, कॉफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8.30 तक) ■ प्रोटेस्ट बुक सेंटर, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बी.एच.यू. परिसर, वाराणसी ■ शहीद पुस्तकालय, द्वारा डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवासदन, भर्यादपुर, मऊ ■

उत्तराञ्चल ■ जनचेतना, भदईपुरा, प्राइमरी स्कूल के पास, किंचा रोड, रुद्रपुर, उधमसिंहनगर

दिल्ली ■ सत्यम वर्मा, 29, यू.एन.आई. अपार्टमेंट, सेक्टर-11, जी.एच.-2, वसुंधरा, गाजियाबाद ■ अधिनव सिंहा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली ■ गीता बुक सेंटर, जे.एन.यू. बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मंडी हाउस

हरियाणा ■ नरभिंदर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, प्रा./पो.संतनगर, जिला सिरसा ■ पंकज, प्लाट नं. 33, सेक्टर 15, सोनीपत

बिहार ■ पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, पटना

बंगाल ■ बुक मार्क, 6, बैंकम चट्टर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता ■ जनादेन थापा, लुक्सान बाजार, पो. करेन, जि. जलपाईगुड़ी ■ राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर, प्रधानगढ़, सिलीगुड़ी

मध्य प्रदेश ■ चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, जगदलपुर, बस्तर

महाराष्ट्र ■ पीपुल्स बुक हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, कोटे, मुंबई

राजस्थान ■ संजय, 69, विनोद विहार, त्रिमूर्ति अपार्टमेंट के पीछे, मालवीय बाग, जयपुर



भगतसिंह ने कहा

"भारतीय रिपब्लिक के नौजवानों, नहीं सिपाहियों, कतारबद्ध हो जाओ। आराम के साथ न खड़े रहो और न ही निर्थक कदमताल किये जाओ। लम्बी दरिद्रता को, जो तुम्हें नाकारा कर रही है, सदा के लिए उतार फेंको। तुम्हारा बहुत ही नेक मिशन है। देश के हर कोने और हर दिशा में बिखर जाओ और भावी क्रान्ति के लिए, जिसका आना निश्चित है, लोगों को तैयार करो। फर्ज के बिगुल की आवाज सुनो। वैसे ही खाली जिन्दगी न गँवाओ। बढ़ो, तुम्हारी जिन्दगी का हर पल इस तरह के तरीके और तरीब ढूँढ़ने में लगना चाहिए, कि कैसे अपनी पुरातन धरती की आँखों में ज्वाला जागे और एक लम्बी अँगड़ाई लेकर वह जाग उठे।"

पॉल स्वीज़ी:



एक प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी

वर्ष 2004 इस मायने में एक अपूरणीय क्षति का वर्ष रहा कि इसने हमसे कई एक ऐसे प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों को छीन लिया जो जीवनपर्यन्त अपने उसूलों पर अड़िग रहे और पूँजीवादी अनाचार और लूटपाट के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करते रहे। अमेरिकी वामपंथी पत्रिका 'मंथली रिव्यू' के संस्थापक सम्पादक पॉल एम. स्वीज़ी एक ऐसे ही कलम के सिपाही थे जिनका गत 27 फरवरी 2004 को न्यूयार्क में निधन हो गया।

पॉल स्वीज़ी ने कार्ल मार्क्स के राजनीतिक-आर्थिक सिद्धांतों को व्याख्या करते हुए इज़रेदार पूँजीवाद के विविध लक्षणों को समझने में उनका प्रभावी इस्तेमाल किया। 'पूँजीवादी विकास का सिद्धांत' 'इज़रेदार पूँजीवाद: अमेरिकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था पर एक निवन्ध' (पॉल बरान के साथ) तथा 'ठहराव और विजीय विस्फोट' (हैरी मैदॉफ के साथ) जैसी उनकी प्रसिद्ध पुस्तकों ने पूँजीवाद की गतिकी और

विभिन्न परिघटनाओं-अभिलाक्षणिकता को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण के प्रश्न पर चली प्रसिद्ध सैद्धांतिक बहस में पॉल स्वीज़ी ने मॉरिस डॉब, रोडनी हिल्टन, रॉबर्ट ब्रेनर और पेरी एण्डर्सन आदि के साथ हिस्सा लिया। इस बहस में यद्यपि उनकी प्रस्थापनाएँ अधिक विवादास्पद मानी गयीं तथा मॉरिस डॉब, हिल्टन, ब्रेनर आदि के विचार क्लासिकी मार्क्सवादी अवधारणा के अधिक अनुरूप थे, लेकिन फिर भी संक्रमण की परिघटना को समझने में इस बहस में स्वीज़ी की भागीदारी का महत्वपूर्ण योगदान था। इसी तरह, समाजवादी संक्रमण की प्रकृति और समस्याओं को समझने में पॉल स्वीज़ी और चाल्स बेतलहीम के बीच चली बहस से दुनिया भर के मार्क्सवादियों को विशेष मदद मिली। हालांकि इस बहस में भी स्वीज़ी के निष्कर्षों से सहमति कठिन है, लेकिन समाजवादी संक्रमण की समस्याओं की समझदारी बनाने में उनके महत्वपूर्ण योगदान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और अपनी विसंगतियों के बावजूद, काफ़ी हद तक उन्होंने बेतलहीम की अवस्थिति की कमज़ोरियों को भी उजागर किया। पॉल स्वीज़ी समाजवादी समाज के अन्तर्विरोधों की पड़ताल करते हुए स्तालिन की मृत्यु के बाद के सोवियत समाज में आयी विकृतियों को स्वीकार करते हुए भी यह नहीं मानते थे कि वहाँ खुश्चेव के समय ही पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो चुकी थी। वे उसे विभिन्न विकृतियों से ग्रस्त, समाजवाद और पूँजीवाद से भिन्न एक संक्रमण कालीन सामाजिक व्यवस्था मानते थे। स्वीज़ी चीनी क्रान्ति और माओ के समाजवादी प्रयोगों का ऊँचा मूल्यांकन करते थे, लेकिन वे पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बारे में माओ और चीनी पार्टी के विचारों से पूरी तरह सहमत नहीं थे। पॉल स्वीज़ी सामाजिक प्रयोगों में सक्रिय पार्टी कार्यकर्ता नहीं थे (और यह उनकी कुछ विवादास्पद प्रस्थापनाओं और विभ्रमों का एक अहम कारण था), लेकिन किसी भी तरह से उन्हें नववामपंथी "मुक्त चिन्तकों" और संशोधनवादी बुद्धिजीवियों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वे एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी बुद्धिजीवी थे, जो आखिरी साँस तक साप्राज्यवादी लूट और युद्धों का उक्ट विरोधी रहा और मुक्ति की समाजवादी परियोजनाओं के प्रति जीवनपर्यन्त निष्ठावान बना रहा।

पॉल स्वीज़ी उस पीढ़ी के मार्क्सवादी थे जिसने 1930 के दशक की महामन्दी और द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका को देखा-भोगा था और पूँजीवाद के मानवहोही चरित्र को भलीभांति समझा था। विश्वयुद्ध में सोवियत संघ की विजय, समाजवाद की प्रगति और राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों ने मेहनतकश जनता के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को अडिग बनाया था। अमेरिका में मैकार्थीकालीन दमन के दौर में भी वे अपने उसूलों पर निर्भीकता और मुखरता के साथ डटे रहे। क्षुद्र, फैशनपरस्त बौद्धिकता से वे धृणा करते थे। न केवल अमेरिका बल्कि पूरी दुनिया के अकादमिक जगत में और बौद्धिक समाज में मार्क्सवादीयों की पीढ़ियाँ तैयार करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है और वर्ग संघर्ष में सक्रिय सर्वहारा के हरावल दस्ते भी उनके विचारों का संजीदगी से अध्ययन करते और लाभ उठाते रहे हैं।

1949 में अमेरिका में घनबोर प्रतिक्रिया के दौर में उन्होंने लियो ह्यूबरमैन के साथ मिलकर समाजवाद के प्रति प्रतिबद्ध विचार-विमर्श के मंच के रूप में 'मंथली रिव्यू' पत्रिका की शुरुआत की थी। लियो ह्यूबरमैन की मृत्यु के बाद हैरी मैदॉफ इस पत्रिका के सम्पादन से जुड़े। आज भी हैरी मैदॉफ और जॉन बेलेवी फॉस्टर के सम्पादन में इसका प्रकाशन जारी है। 'मंथली रिव्यू' के प्रवेशांक में ही अल्बर्ट आइस्टीन का सुप्रसिद्ध निबन्ध 'समाजवाद ही क्यों?' पहली बार प्रकाशित हुआ था।

पॉल स्वीज़ी के साहस, प्रतिबद्धता और वैचारिक कार्यों का हम कृतज्ञतापूर्वक अभिनन्दन करते हैं और उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि देते हैं।

नेटवर्क मार्केटिंग की असलियत

● अरविन्द कुमार

आजकल 'नेटवर्क मार्केटिंग' का चलन और कोलाहल बढ़ता जा रहा है। नब्बे के दशक में 'एमवे', 'टाइम लाइन' एशिया', 'एमवे' और 'ओरिफिलेम'- जैसी कुछ कंपनियों ने भारत में अपना कारोबार शुरू किया था। सम्रति 15 से भी ज्यादा विदेशी-स्वदेशी कंपनियों के 11 लाख वितरक 2000 करोड़ रु. का सालाना करोबार कर रहे हैं। दैनिक घरेलू उपयोग के विभिन्न उत्पादों के अलावा ये कंपनियाँ सौंदर्य प्रसाधन, वजन नियंत्रित करने वाले उत्पाद, पोषक आहार, प्रीमियम रेंज की पुस्तकें आदि बिक्री करने में जुटी हैं। 'एमवे इंडिया' के सी.ई.ओ. और प्रबंध निदेशक विलियम एस. पिंकने के अनुसार—“यह तो शुरूआत है, हमारे व्यवसाय के लिए भारत में काफी संभावनाएँ हैं।”

(‘इंडिया टुडे’, 30 जुलाई, 2003)

निम्नलिखित आँकड़ों से नेटवर्क कंपनियों के फैले जाल का एक अंदाजा लगाया जा सकता है—

कंपनी	शुरूआती वर्ष	अनुमानित बिक्री	सक्रिय वितरकों की संख्या
एमवे	1998	626 करोड़	3.5 लाख
मोटी केयर	1996	150 करोड़	4.75 लाख
ए.भी.ओन	1998	100 करोड़	62 हजार
हर्बफ	1999	80 करोड़	20 हजार

(‘इंडिया टुडे’, 30 जुलाई, 2003)

आइए, अब यह देखें कि नेटवर्क मार्केटिंग की यह प्रणाली किस तरह परिचालित होती है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—अगर कोई एमवे से जुड़ना चाहता है तो उसे 4500 रुपये की निर्धारित राशि कंपनी को देनी होती है, जिसमें से 500 रु० निबंधन-शुल्क के रूप में काटकर कंपनी 4000 रु० के अपने उत्पाद उसे मुहैया कराती है। अब उसे अपने प्रयास से अन्य 6 लोगों को तैयार करना पड़ता है, जो उसी तरह इस कंपनी से जुड़े। फिर उन 6 लोगों में से प्रत्येक 6-6 अन्य को प्रेरित कर इस नेटवर्क में जोड़ने का प्रयास करता है। इस तरह उपभोक्ताओं की इस शृंखला से एक पिरामिड की संरचना तैयार होती है। इस शृंखला में शामिल हर व्यक्ति कंपनी के उत्पादों का वितरक सह उपभोक्ता सह प्रचारक होता है। उसके द्वारा बनाए गए वितरक उसके डाउन लाइन में होते हैं, जैसे वह खुद अपने अपलाइन वितरकों सह उपभोक्ताओं-प्रचारकों के डाउन लाइन में होता है। इस शृंखला के किसी बिन्दु पर स्थित किसी वितरक सह उपभोक्ता

को उसके डाउन लाइन के लोगों द्वारा क्रय किए गए उत्पादों पर कमीशन प्राप्त होता है। इस तरह गणितीय गणना द्वारा कंपनी यह दिखाती है कि कोई वितरक अपने डाउन लाइन में एक खास संख्या में वितरकों की शृंखला तैयार कर सिल्वर, गोल्ड और डायमंड कैटेगरी तक पहुँच सकता है और लाखों कमाई कर सकता है। इस प्रकार कंपनी उपभोक्ता बनने के साथ-साथ लाखों की कमाई करने के सब्जबाग में लोगों को फौसी है। कुछ इस तरह के प्रवचन दिए जाते हैं—

“आपने कभी यह विचारा है कि एक आम आदमी कितना कष्टपूर्ण जीवन बिताता है? वह सामान्य घरों में रहता है, अपने बच्चों को सामान्य स्कूलों में पढ़ाता है, पत्नी और बच्चों को खुश नहीं रखता, परोपकार या समाज व देश सेवा नहीं करता, मनचाही छुट्टियाँ मनपसंद जगहों पर नहीं बिताता है। ऐसे में यदि उसका एक्सीडेंट हो जाए, उसकी पत्नी विधवा और बच्चे अनाथ हो जाएँ तो उसका क्या हश्च होगा? आपको आर्थिक मौका मिला है। अब आप भी 45000 डॉलर वाली लेकप्स कार पर चढ़ सकते हैं। इन्हें करने स्विट्जरलैंड और हांगकांग जा सकते हैं।”*

“क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि तनावग्रस्त जीवन बिता रहे हैं? दिनभर की भाग-दौड़ और कमरतोड़ मेहनत के बावजूद क्या आप आर्थिक तंगी महसूस नहीं करते हैं? क्या आपकी पत्नी और आपके बच्चे छोटी-मोटी चीजों के लिए तरसते नहीं रहते हैं? क्या आपकी इच्छा नहीं होती कि हमारे पास भी तमाम तरह की भौतिक वस्तुएँ हों? विदेश-यात्रा करें? पर्याप्त धन और समय हो? हम खूब इन्ज्वाय करें?”*

एमवे कम्पनी का प्रवचनकर्ता मध्यवर्ग के लोगों को सम्प्रोहित करते हुए अमरीका के मध्यवर्ग के लोगों की सफलता की बातें कहता है—

“आज मध्यम-वर्ग की आमदनी 47000 डॉलर है। लोगों की संख्या से ज्यादा कारों हैं। हर परिवार में कम-से-कम दो टी०वी० सेट्स हैं। लोगों की औसत आयु 75 वर्ष है। सामान्य लोगों के पास भी खर्च करने को ज्यादा धन और मौज-मस्ती के लिए फालतू बक्त है।”*

नाना प्रकार की चीजों का उपभोग करने और एक समृद्ध जीवन जीने के लिए एक आसान उपाय के रूप में ही वह नेटवर्क मार्केटिंग में शामिल होने का लोगों का आह्वान करता है।

आइए, अब इन हवाई उपदेशों और नेटवर्क मार्केटिंग के इस सब्जबाग की असलियत का एक जायजा लें।

समृद्धि का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह घोषणा की

जाती है—

“आपने 32 वर्षीय नाज फरोज का नाम सुना होगा। चार वर्ष पहले राँची में इनका परिवार अर्थिक तंगी में था। ये एमवे की वित्रक बनी और इनका वक्त बदला। आज ये 50,000 रु० प्रतिमाह कमाती हैं। विदेशों में छुटियाँ बिताना और फाइबर स्टार होटलों में खाना अब इनके लिए आम बात हैं।”

(‘इडिया टुडे’, जुलाई, 2003)

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या राँची में एकमात्र नाज फरोज ही वित्रक बनीं? क्या और लोग इससे नहीं जुड़े? यदि और भी जुड़े तो फिर उन सबों का क्या हुआ?

दरअसल, नेटवर्क मार्केटिंग मालों के अति-उत्पादन के दुश्चक्र में फँसी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मालों को खपाने और मुनाफा बढ़ाने की ही एक तदबीर है। भड़कीले विज्ञापनों, तरह-तरह की स्कीमों, नगनता-प्रदर्शनों आदि, द्वारा मालों की बिक्री और मुनाफा बढ़ाने का प्रयास तो पहले से ही किया जाता रहा है। संकट बढ़ने पर, नेटवर्क मार्केटिंग द्वारा यही काम आम लोगों को करोड़पति बनाने का झाँसा देकर अपना नियमित और स्थायी उपभोक्ता और प्रचारक बनाने की धूर्त चाल द्वारा किया जा रहा है। जिस समाज में 10 प्रतिशत लोगों की स्थिति ही करोड़पति बनने की हो उस परिस्थिति में ये ‘डाइरेक्ट सेलिंग’ कम्पनियाँ अपने नेटवर्क मार्केटिंग के ठगी भरे नुस्खे के सहारे हर एक उपभोक्ता को करोड़पति बना देने की हास्यास्पद बातें करती हैं!! अर्थशास्त्रीय गणित तो यह कहत है कि 90 प्रतिशत लोगों का शोषण कर ही 10 प्रतिशत पूँजीपति लाभान्वित होते हैं, अपने अस्तित्व को बकरार रखते हैं। हाँ, नेटवर्क मार्केटिंग में जो इक्के-दुक्के समृद्धि के ऊँचे सोपान तक पहुँचते भी हैं तो नेटवर्क की श्रृंखला में अपने नीचे के लोगों की जेब झटकर ही। फिर यह स्वप्न दिखाना कि आम लोग नेटवर्क मार्केटिंग अपनाकर बिना पूँजी लगाए करोड़पति बन सकते हैं, एक झूठ और फरेब है। वास्तव में आपसे अपना माल बेचवाना ही इनका (कम्पनियों का) मुख्य उद्देश्य है। अनेक कंपनियाँ करोड़ों की पूँजी लगाकर स्वयं फँसी हुई हैं और आप करोड़पति बनने का कोरा स्वप्न देखते हुए अपनी एडी-चोटी का जोर लगाकर उनके मालों की बिक्री का प्रयास करते हैं। और इस तरह आप जहाँ कंपनियों को संकट से उबारने का प्रयास करते हैं, वहाँ खुद संकटों के दलदल में फँसते जाते हैं।

आप इसके दुश्चक्र में स्वयं तो फँसते ही हैं, अन्य लोगों को भी जो आपके सगे-सम्बन्धी, मित्र, पड़ोसी होते हैं—इस भ्रमजाल में फँसने की कोशिश करते हैं। अन्य लोगों को भी इस मकड़ाजाल में फँसने के लिए और डाउन लाइन के लोगों को उत्साहित करते रहने हेतु एक-से-एक नौर्टिकीयाँ करनी होती हैं। कोई भाड़े पर कार लेकर समय-समय पर आयोजित मीटिंगों में आता है एवं अपनी पूर्व-पृष्ठभूमि एक गरीब रिक्षाचालक की बताते हुए झूठ-मूठ के किस्से सुनाता है, तो कोई अपनी समृद्धि का अन्य तरीके से झूठा प्रदर्शन करता है, और इसका श्रेय अपने नेटवर्क मार्केटिंग व्यवसाय को ही देता है। ये सारी तिकड़ियों और फरेब आपको इसलिए करने पड़ते

हैं कि इसमें शामिल होते ही आपका एकमात्र काम उन छः लोगों को फँसना होता है जिनकी कीमत पर आपकी कुछ कमाई हो सके आपकी कमाई बढ़ाने के लिए ये छह पहले शिकार, अपने छह-छह शिकारों को पकड़ें, यह भी आपकी चिंता में सदा शामिल रहता है। इस जंजाल के जिस जाल में आप फँस चुके होते हैं, उसमें आगे बढ़ने के लिए काफी वक्त देना पड़ता है, यह कहने की जरूरत नहीं है।

इस पूँजीवाद में ‘आठ घंटे काम-आठ घंटे आराम और आठ घंटे मनोरंजन’ वाला नियम तो व्यवहारतः बहुत पहले ही टूट चुका है। लोगों को जीविकोपार्जन करने में भी घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। ‘ओवर टाइम’ काम करके भी आज आदमी अपने अस्तित्व को बचा पाने में असमर्थ जान पड़ता है; जहाँ, एक आम आदमी के लिए विभिन्न आफतों से निजात पाने का समय भी मुश्किल से निकल पाता है, वहाँ नेटवर्क मार्केटिंग कम्पनी का प्रवचनकर्ता उनकी समस्याओं को नजरअंदाज कर इस माल-बिक्री के काम के लिए समय निकालने का यह फार्मूला पेश करता है—

सुबह + शाम—2 घंटे

शनि + रवि—3 घंटे

प्रति सप्ताह—16 घंटे

पूरा वर्ष—800 घंटे

(बिजनेस पाइप लाइन)

यह एक ऐसा फार्मूला है कि आप जीविकार्जन हेतु काम के जुए से छूटते ही कम्पनी के लिए भिड़ जाते हैं, हरदम बेचैन रहते हैं, नींद भी ठीक से नहीं आती और आप स्वयं के लिए मनोरंजन, कला-संस्कृति, साहित्य, विज्ञान आदि की अनिवार्यता पर रक्तीभर भी ध्यान न देकर, पूँजीवादी व्यवस्था के आर्थिक नियमों से अनजान रहते हुए झूठे सफरे ढोते हुए तांगे के घोड़े की तरह दौड़ते-दौड़ते, असफलताओं की दीवारों से टकरा-टकरा कर अंततः अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। आपका हर पड़ोसी आपको ग्राहक नजर आता है। आप अपने इष्ट मित्रों से भी एक व्यवसायी के रूप में मिलते हैं। आपकी सामाजिकता और नैतिकता दोनों दुष्प्रभावित होती है। जहाँ सामाजिक संबंध बिगड़ जाने की संभावना शत-प्रतिशत हो, वहाँ इस मकड़ाजाल का बुनकर आपके सामने “लोकप्रियता”, “परोपकार” और “समाज व देश-सेवा” के नशे परोसता है—“यह योजना अत्यन्त महत्वपूर्ण और कल्याणकारी है। आपके पास इतने पैसे और फालतू वक्त होंगे कि खर्च करते नहीं घटेंगे। आप समाज व देश-सेवा जैसे अनेकानेक परोपकार के कार्य कर महान हो जायेंगे, अपने समाज में प्रतिष्ठित हो जायेंगे। कौन जानता है कि आपके लिए राजनीति का द्वारा भी खुल जाए, आप राष्ट्रपति भवन, ‘हाइट हाउस’ तक पहुँच जाएँ। भटके को राह, भूखों को अन्न, नांगों को वस्त्र देकर आप बेशुमार पुण्य भी बैठेंगे!”

हम जानते हैं कि अति-उत्पादन के कारण बाजार में मालों का अंबार लगा है। कई कंपनियों के द्वारा एक प्रकार के ही माल विभिन्न नामों से तैयार पड़े हैं—बिकने को। इधर

डुप्लीकेट (नकली) सामानों से भी बाजार पटता जा रहा है। क्रेताओं की क्रयशक्ति जवाब दे रही है। विभिन्न कंपनियाँ सामान्य और नेटवर्क दोनों तरह की मार्केटिंग कर रही हैं। नेटवर्क के माध्यम से ये सामान्यतः महँगे सामानों को बेचती हैं ताकि अधिकाधिक मुनाफा हो सके। लोगों की पूँजीवादी आकांक्षाओं को उकसा-उभारकर ये कंपनियाँ उन्हें अपने जाल में फँसाती हैं और अपने बाजार और बिक्री को सुनिश्चित करने के लिए उनसे कहती हैं—“आप अपने पड़ोसियों और मित्रों से, सगे-संबंधियों से हमारे प्रोडेक्ट (उत्पाद) खरीदने को कहें। आज चोरबजारों में भी इन्हीं नामों से बहुत डुप्लीकेट (नकली) माल मिलने लगे हैं। इनसे बचिए। लोग एक नंबर का सामान खरीदेंगे; कम्पनी की आय बढ़ेगी और साथ-साथ आपकी भी। आप हमारा माल खरीदें और खरीदवाएँ, हम आपको मालामाल कर देंगे।”

बाजार की प्रतिद्वंद्विता में स्वदेशी कंपनियाँ, विदेशी को हटाने के लिए स्वदेश-प्रेम, राष्ट्रवाद के फ़िकरे फ़ैक्टरे हुए कहती हैं—

“आप भारतीय हैं। अपनी सभ्यता और संस्कृति से प्रेम करनेवाले, उस पर पर मिटनेवाले। आपने बड़ी मशक्कत से अपनी आजादी पायी है। गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने में आपने जो देशभक्ति और बहादुरी दिखाई है, वह जगजाहिर है। आपकी आजादी को छीनने की फिर सजिश रची जा रही है। आपके यहाँ विभिन्न विदेशी कंपनियाँ फिर पाँच पसार रही हैं। आप इतिहास को याद कीजिए, अंग्रेजों ने भी ऐसे ही कब्जा किया था। आप इनके बड़यत्र को समझें और अपनी देशभक्ति का पुनः परिचय दें—स्वदेशी सामानों को अपनाकर। हमारा विश्वास है हम इसमें पूरी तरह कामयाब होंगे; पूँज्य बापू के सपनों को साकार करेंगे।”*

बात स्पष्ट है। विदेशी हो या स्वदेशी, दोनों का एक ही उद्देश्य है—अपना माल बेचना और मुनाफा कमाना। कोई विदेशी नेटवर्क कंपनी की दलाली करता हैं तो कोई स्वदेशी की तीमारदारी।

इन नेटवर्क कंपनियों द्वारा आपके सामने छः सूत्री ‘जीवन दर्शन’ पेश किया जाता है—**सुरक्षा**>**स्वतंत्रता**>**नियंत्रण**>**समाज व देश-सेवा**>**सुख**>**परमानन्द**। और आप इसी को सही मानकर सच्चाई से बेखबर हो जाते हैं। आप दिन-रात एक कर देते हैं। आपको “हर समय अडिंग और पैसे कमाने को आतुर” रहने की सीख दी जाती है। आज बंबई तो कल कलकत्ता—इसकी मीटिंगों में भाग लेने के लिए दौड़ लगाते हैं। शृंखला की एक कड़ी के शिथिल होते ही आपको खतरा महसूस होने लगता है। इस काम में आपकी पली के गहने तक बिक सकते हैं। कड़ियों का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। कई पागल हो जाते हैं। कई शिक्षकों और वकीलों को इस दुश्चक्र में फँसकर पागल होते मैंने देखा है। उनका जीवन नारकीय हो गया है। कई लोग आत्माहत्या तक कर चुके हैं। इस तरह अधिकांश लोग इसके चक्कर में बरबाद हो चुके हैं। यदि इक्के-दुक्के ‘सिल्वर’ अथवा ‘डायमंड’ श्रेणी तक पहुँचे

भी हैं तो इन्हीं अधिकांश लोगों की लाशों को रोदते हुए। हाँ, ये ‘अपलाइन’ वाले नीचे के ‘डाउनलाइन’ के लोगों के अंतः निराश होकर शृंखला छोड़कर हट जाने और इस तरह से (इससे ऊपर के इक्के-दुक्कों की कमाई प्रभावित हो जाती है) बरबाद हो जाने वालों के संभावित आक्रोश से सदा संशक्ति रहते हैं। यह तो तथ्य है कि शृंखला में नीचे के आधिकांश लोग बरबाद होंगे ही।

“हर सफल वितरक के पीछे कम-से-कम वितरकों का एक ऐसा वर्ग होता है, जिसका इस कारोबार से मोहर्भंग हो चुका होता है। ‘इंडियन-डायरेक्ट-सेलिंग डिस्ट्रीब्यूटर्स एसोसिएशन’ (आईडी०एस०ए०) के अनुसार 40 से 50 प्रतिशत वितरक इस कारोबार से बाहर हो जाते हैं। ज्यादा से ज्यादा प्लाइट वैल्यू और इस तरह पैसा अर्जित करने की लालसा में शुरू में अति उत्साही वितरकों के बहुलांश को अंतः: यह ज्ञान हो ही जाता है कि धनी बनना इतना आसान नहीं। ‘एवन ब्यूटी प्रोडक्ट्स’ के प्रबंध निदेशक हरमीत पैटेल के शब्दों में—“दुनिया में कहीं भी आसानी से पैसा कमाया नहीं जा सकता।”

(‘इंडिया-टुडे’, जुलाई, 2003)

नेटवर्क मार्केटिंग कंपनियों के जाल में फँसे ये मध्यवर्गीय अतिउत्साही व्यक्ति करते तो हैं कंपनी की एजेंटी का काम-कंपनी के लाभ के लिए, किन्तु इन्हें इस भ्रम में रखा जाता है कि यह आपका ‘अपना’ बिजनेस है—“बिना पूँजी लगाए ही मालामाल” हो जाने वाला बिजनेस। पर एक ताजा आँकड़े से आप सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि इस कारोबार में किसका स्वार्थ निहित है और कौन मालामाल हो रहा है। एमवे ने केवल पंजीकरण शुल्क के रूप में अबतक 7 लाख वितरकों से 880 करोड़ रूपये कमाए हैं।

(‘इंडिया-टुडे’, जुलाई, 2003)

वास्तव में इन कंपनियों के दर्शन का निहितार्थ, करोड़पति बनाने का भ्रामक चारा फ़ैक्कर बिना कोई पारिश्रमिक दिये यानी मुफ्त में अपने माल के प्रचारकों की फौज खड़ी करने, उनसे अपने फायदे के लिए दिन-रात खटवाने और इस तरह माल-बिक्री से अपना अतिलाभ सुनिश्चित करने के सिवा और कुछ नहीं है।

इनके प्रवक्ताओं के लिए मुट्ठी भर लुटेरे, तिकड़मबाज व पैसेवाले निकृष्ट लोग ही महान व्यक्ति हैं और अपने श्रम पर जिंदा रहनेवाले और इन पेटुओं का पेट भरने वाले करोड़ों मेहनतकश, आदमी कहलाने लायक भी नहीं हैं, हेय और तुच्छ हैं। इस दर्शन में विश्वास कर लोग नैतिक-सांस्कृतिक पतन के गर्त में चले जाते हैं और अपने ही गरीब पड़ोसी भाइयों की गरीबी का मजाक उड़ाकर अमानवीय आचरण करने लगते हैं।

जब तक यह पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी, तबतक शासक पूँजीपति वर्ग इसी तरह के भिन्न-भिन्न मकड़जाल बुनता रहेगा। शोषण और अन्याय पर टिकी इस व्यवस्था को उखाड़ फ़ैक्नेवाले मजदूर वर्ग के साथ होने में ही मध्यवर्ग की

(पैज 18 पर जारी)

राजविंदर मीर की सात कविताएँ

दखलअंदाज़ी

यह हमारी दखलअंदाज़ी है
रंगों में दखलअंदाज़ी है
कविता में दखलअंदाज़ी है
हर दिन में दखलअंदाज़ी है
हर दिशा में दखलअंदाज़ी है
जनम ले रहे मनुष्य के
इस मयार में दखलअंदाज़ी है
दखलअंदाज़ी करने के
अधिकार में दखलअंदाज़ी है।

चौपट राजा

चौपट राजे के फ़रमान सुनकर
मैं बुरी तरह डर जाता हूँ।
अंधेर नगरी के किसी कोने में
छुप जाता हूँ।
अंधेरा कोना
बताता है कई राज
कि बूढ़ा राजा मरने वाला है
और बेशरमी की हद करने वाला है।
अंधेर नगरी में
जब करता है कोई संवाद
चौपट राजा बुरी तरह डर जाता है
और युनियन के दफ्तर आगे
बीट कर जाता है।

कविता नहीं

कोई कविता नहीं
ख़्याल थक जाते हैं
प्रूफ देखने.....
बंडल बाँधने में.....
अख़बारों को उनकी राहों में भेजना है

बहुत काम करना है
भट्ठा बस्ती के कोने में बनी
उस झोपड़ी में जाने से पहले
कविताओं वाली डायरी
साथ ले ली है।

मेरा काम

मेरी कविता ने
याद दिलाया मुझे मेरा काम
याद दिलाया जब शाम
आँखों में उतर रही थी
जब सुबह अंधी होने को थी
याद दिलाया मुझे मेरा काम
कि मैंने काम करना है
काम करना है
बीमार गलियों में
रोगी फैक्ट्रियों में
काम करना है
मोम के पंखों वाले
नौजवानों के बीच
कि मैंने
काम करना है।

आदर्शवादी कविता

आज भी वह
काफ़ी कुछ बनाता रहा
और बचाता रहा
उसने सँभाल ली
बाप की आँखों में थी जो चमक
और पंद्रह साल के
रिक्षे वाले के शब्द
“हमारे कुछ सिद्धान्त हैं साहिब”
आज भी वह आदर्शवादी लड़का

अपने आदर्श निभाता रहा
और दिन भर की कमाई के तौर पर
देखता रहा
कि दोनों हाथों में
ज़िन्दगी के
सिरे पकड़े हुए है।

एक कदम

मैं एक कदम हूँ
पीछे की ओर से आगे उठाया गया
और अगले के लिए
एक कड़ी बनता
एक नौजवान कदम
अपने हिस्से का रास्ता तय करता है
हँसता हुआ
समय की हथेली में उतर जाता है
आकाश में एक तारा
और जुड़ जाता है।

डायरी

इतिहास के इस अंधेरे-गुबार में
हमें डायरी लिखने की
आदत डाल लेनी चाहिए
वैसे भी डायरी लिखते हुए
ज़िन्दगी में सरगर्मी महसूस होती है
या सरगर्म होते हुए ही डायरी लिखी जा सकती है
कभी तो घटनाओं की तेज रफ़तार के साथ
कदम मिलाने की कोशिश करें
कभी-कभी घटनाएँ घटने की सुस्ती पर
खोझ जाना चाहिए
शब्दों और संकल्पों को
फट जाने से बचा लेने की ज़िम्मेदारी
बिना किसी बहाने के
कबूल लेनी चाहिए
इन संकल्पों के पीछे
एक पूरी दुनिया आबाद है
जिसने खूबसूरत हो जाने की
उम्मीद नहीं छोड़ी।

जैसे यह शब्द हैं
आजादी, कम्युनिस्ट, समाजवाद,
फूल, प्यार, उम्मीद
और वे तमाम शब्द
जिन्हें सुनकर खूबसूरती याद आती है
सो हम कह सकते हैं
कि हमें
खूबसूरत दुनिया की उम्मीद को
कायम रखने की ज़िम्मेदारी
कुबूल लेनी चाहिए
इतिहास के इस धुंधले भाग में
बहुत स्पष्ट चीज़ों की ज़रूरत पड़ेगी
जैसे संकीर्णता और प्रतिबद्धता के बीच
एक स्पष्ट लकीर
इन मौसमों की ठंडी शहीदी
या झटपट गुमनाम मौत
रात भर पिघलते रहना
या सदी जितना बड़ा कोई फैसला
और लड़ाई का स्पष्ट पक्ष
डायरी लिखने को
शौकिया नहीं लेना चाहिए
जैसे कविता
शौक के लिए नहीं लिखी जा सकती
हमारे पूर्वजों के
डायरी ना लिखने का जवाब
इतिहास आज हमसे माँगता है
हम नहीं चाहेंगे
कि यह धुंध-गुबार
जालिम और खूनी बनकर
कल हमारी बच्चियों से हिसाब माँगे
(क्योंकि इतिहास के उस दौर का
एक चेहरा बलात्कारी होता है)
इस दौर के चेहरे से नकाब खींचकर
इस का हर व्योरा
डायरी में दर्ज कर लेना चाहिए
या किसी इश्तिहार के रूप में छाप कर
बाँट देना चाहिए।

गाँव-पोस्टः कोट लल्लू
मानसा-151505, पंजाब

छात्र-नौजवान नयी शुरूआत कहाँ से करें?

(पेज 8 से जारी)

लेकिन फर्क यह है कि वे अपना खेल कुछ गर्मागर्म नारों और “मजदूर क्रान्ति” आदि के जुबानी जमाखर्च के साथ-साथ खेलते हैं। चुनावी बामपंथी पार्टियाँ मजदूरों के बीच अर्थवादी-सुधारवादी सरगर्मियाँ करती हैं और इनके छात्र-युवा संगठन सालाना कुछ रस्मी आन्दोलनों और कुछ जलसों की कावायद करते रहते हैं। हाल के वर्षों में यह फर्क ज़रूर पड़ा है कि ऐसे नामधारी बामपंथी छात्र युवा संगठनों की नकली-क्रान्तिकारिता आम छात्रों-युवाओं के बीच काफी हद तक नंगी हो चुकी है। लेकिन क्रान्तिकारी छात्र-युवा राजनीति का इनका भोंडा स्वांग अभी भी बदस्तर जारी है।

आज की नंगी सच्चाई यह है कि कैम्पसों के बाहर, समाज में, सड़कों पर किसी नौजवान आन्दोलन की रस्मी सरगर्मियाँ भी नाममात्र को ही देखने को मिल रही हैं। कॉलेजों, विश्वविद्यालयों के कैम्पसों में पिछले एक दशक से भी कुछ अधिक समय से पसरा हुआ सन्नाटा टूटने के संकेत अभी नज़र नहीं आ रहे हैं। पूँजीवादी और छद्म-बामपंथी छात्र-संगठनों और व्यक्तिवादी कैरियरवादी छात्र नेताओं की और आम छात्रों ने उम्मीद की निगाह से देखना काफी पहले बन्द कर दिया। लेकिन ऐसा कोई प्रभावी क्रान्तिकारी विकल्प उनके सामने मौजूद नहीं है, जो उनमें नयी उम्मीदें जगा सके। इस कड़वी सच्चाई की अनदेखी नहीं की जा सकती कि निराशा और ठहराव के इस माहौल में छात्रों की आबादी के बीच फासीवादी

“कुछ छात्र संगठन ऐसे भी हैं जो एन. जी. ओ. के साथ खुलेआम अभिसार कर रहे हैं और ऐसे कैरियरवादी, निटल्ले, फैशनपरस्त बामपंथी युवाओं के जमावडे बन चुके हैं जो कुछ दिनों तक छात्र राजनीति का शौक पूरा कर लेने के बाद इस या उस एन. जी. ओ. के दुकड़खोर-चाकर बन जाते हैं।”

की आड़ में भरमा-बहकाकर सुधारवाद के दलदल में धौंसा देते हैं, उन्हें “बेतनभोगी सामाजिक कार्यकर्ता” बनाकर भ्रष्ट कर देते हैं और व्यवस्था में समायोजित कर लेते हैं। हालत यह है कि कल तक क्रान्तिकारी बाम छात्र राजनीति की धारा से जुड़े हुए (और आज भी ऐसा दावा करने वाले) कुछ छात्र संगठन ऐसे भी हैं जो एन. जी. ओ. के साथ खुलेआम अभिसार कर रहे हैं और ऐसे कैरियरवादी, निटल्ले, फैशनपरस्त बामपंथी युवाओं के जमावडे बन चुके हैं जो कुछ दिनों तक छात्र राजनीति का शौक पूरा कर लेने के बाद इस या उस एन. जी. ओ. के दुकड़खोर-चाकर बन जाते हैं।

क्रान्तिकारी बामपंथी धारा के बहुतेरे ऐसे छोटे-छोटे छात्र संगठन हैं जो कुछ रस्मी काम और कुछ गर्म नारों की जुगाली करते हुए, विपथामी होकर नकली बामपंथी छात्र संगठनों के गिरोह में शामिल हो जाने की दिशा में उम्मुख हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो वैचारिक संकीर्णता, कठमुल्लेपन और अतिवामपंथी लफकाजी के शिकार हैं। ज़मीनी कार्रवाइयों और

व्यापक छात्र आबादी को जागृत-संगठित करने के लिए जनदिशा पर अमल करने के बजाय वे गर्मागर्म नारे देते हैं तथा आगन-फानन में हथियारबंद क्रान्ति का रोमानी सपना दिखाते हैं। साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के विरुद्ध नयी समाजवादी क्रान्ति की बदली परिस्थितियों को समझने के बजाय ये संगठन आज भी भारत को अद्वासमन्ती-अद्वौपनिवेशिक बताते हैं और राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का नारा

देते हैं। जनकार्रवाइयों के बारे में समझ के अभाव और देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की ग़लत समझ के चलते ऐसे छात्र संगठन अब तक व्यापक छात्र आबादी का कोई आन्दोलन न तो संगठित कर पाये हैं, न ही भविष्य में कर पायेंगे। व्यवहारात: ऐसे छात्र संगठन देश के कुछ पिछड़े-दुर्गम क्षेत्रों में “बामपंथी” दुस्साहसवादी लाइन पर जारी सशस्त्र संघर्षों के लिए कैम्पसों से कुछ नये रंगरूट भरती करने के साथ साथ या तो कुछ सेमिनार-टाइप बौद्धिक अनुष्ठान करते हैं या फिर कुछ रैडिकल सुधारवादी कार्रवाइयाँ करते हैं।

मुद्दा चाहे बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट और तमाम सरकारी नियंत्रों द्वारा लगातार थोपी जा रही धोर पूँजीपरस्त शिक्षा-नीतियों का हो, लगातार बढ़ती फीसों और घटती सीटों का हो, शिक्षा संस्थानों को सीधे पूँजीपति घरानों को सौंपने का हो या कैम्पसों में लगातार सिकुड़ते जा रहे जनवादी ‘सेप्स’ का हो, छात्र आन्दोलन कहीं भी प्रभावी प्रतिरोध संगठित कर पाने की स्थिति में नहीं हैं।

इस स्थिति को तोड़ने के लिए इसके मूलभूत कारणों

को समझना ज़रूरी है। पहली बात तो यह कि जब पूरी दुनिया और पूरे देश के पैमाने पर क्रान्ति की लहर पर प्रतिक्रान्ति की लहर हावी है और क्रान्तिकारी राजनीति की धारा वैचारिक कमज़ोरी, परिस्थितियों की ग़लत समझ, अतीत की क्रान्तियों के अंधानुकरण की प्रवृत्ति तथा इन सबके परिणामस्वरूप ठहराव एवं विघटन की शिकार है, तो यह पूरा परिदृश्य क्रान्तिकारी छात्र-युवा राजनीति के परिदृश्य को भी प्रधावित कर रहा है। लेकिन इस स्थिति को बदलने में भी क्रान्तिकारी नौजवानों को ही महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। स्थितियों की सही समझ के आधार पर छात्र-युवा आन्दोलन के पुनर्निर्माण के प्रयासों के साथ ही प्रबुद्ध क्रान्तिकारी युवाओं को मेहनतकश वर्गों की क्रान्तिकारी राजनीति के पुनर्निर्माण के बारे में भी सोचना होगा, मेहनतकश वर्गों के बीच भी काम करना होगा और क्रान्ति की हरावल कतारों में छात्रों-युवाओं के बीच से नई भरती की ज़बरदस्त मुहिम छेड़नी होगी।

कैम्पसों में छात्र आन्दोलन के ठहराव-विखराव का एक दूसरा अहम कारण विगत लगभग बीस वर्षों के दौरान छात्र आबादी की संरचना में आया महत्वपूर्ण बदलाव भी है। लगातार घटती सीटों और बढ़ती फीसों के चलते आज उच्च शिक्षा के केन्द्रों में छात्र आबादी बहुत घट गयी है। और जो हैं भी, वे ज्यादातर खाते-पीते घरों के स्वार्थी, कैरियरवादी और सामाजिक सरोकारों से रहित लालड़े हैं, जिनका “सर्वग” काफ़ी हद तक इसी व्यवस्था में सुरक्षित है। तकनीलोंजी, प्रबंधन आदि ‘प्रोफेशनल कोर्सेज़’ पर जोर बढ़ा है और महँगी पढ़ाई के इन क्षेत्रों में समाज के धनिक वर्गों के छात्रों का वर्चस्व है। आम घरों के छात्र कुछ उपेक्षित विषयों की पढ़ाई ही कर पाते हैं और किसी भी तरह का रोजगार पा लेने की बदहवास कोशिशों में लगे रहते हैं। बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी से तो अपवादस्वरूप ही कोई युवा उच्च शिक्षा के कैम्पसों तक पहुँच पाता है। अब ज्यादातर निम्न मध्यवर्गीय छात्र भी विश्वविद्यालयों और प्रतिष्ठित कॉलेजों के कैम्पसों से बाहर ठेल दिये गये हैं। वे या तो महानगरों के निम्नमध्यवर्गीय रिहायशी इलाकों या फिर दूर-दराज के कस्बों-देहात के उपेक्षित कालेजों में हताश कुर्झित पड़े हुए भविष्य के अन्धकूप में ढूब-उत्तरा रहे हैं, या कोई छोटा-मोटा रोज़ी-रोज़गार करते हुए बेहतर रोज़गार पाने की कोशिश में लगे हैं, या फिर कारखाना-गेटों पर दिहाड़ी और ठेका मज़दूरों की कतारों में छड़े हैं।

इसीलिए आज कैम्पस-केन्द्रित छात्र आन्दोलनों की संभावनाएँ वस्तुगत तौर पर भी कम हो गयी हैं। छात्र आन्दोलन और नौजवान आन्दोलन के संयुक्त रूप में एक छात्र-युवा आन्दोलन के रूप में संगठित होने की अनुकूल परिस्थितियाँ अब पहले हमेशा से अधिक तैयार हैं और उसे व्यापक मेहनतकश अवाम के पूँजी-विरोधी संघर्षों से सीधे जोड़ देने की सम्भावनाएँ भी पहले से अधिक पैदा हो गयी हैं। पूरे समाज से लेकर कैम्पस तक में आये संरचनागत बदलावों के चलते, क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन के पुराने जड़ीभूत, बद्धमूल सौँचे और खाँचे को पूरी तरह से बदल देना होगा और उपरोक्त

बदलावों के मद्देनज़र एक नये कार्यक्रम के आधार पर नयी शुरुआत करनी होगी।

छात्रों और युवाओं को अपनी राजनीतिक प्रचारसूलक तथा आन्दोलनात्मक सरगर्मियों को कैम्पसों से बाहर सङ्कों पर और मेहनतकश तथा निम्नमध्यवर्गीय रिहायशी बस्तियों में लाना होगा। वहाँ छात्रों-युवाओं को शिक्षा और रोजगार के मुद्दों पर संगठित करते हुए उन्हें आम मेहनतकश आबादी के बीच भी अनेकशः रचनात्मक कार्यक्रम लेने पड़ेंगे, उनके आन्दोलनों में भागीदारी करनी होगी तथा उनके बीच क्रान्तिकारी प्रचार भी कार्रवाई संगठित करनी होगी।

कैम्पस के बाहर युवा शक्ति जिस हद तक संगठित और आन्दोलित होगी और आम जनता के संघर्षों से जितनी जुड़ी होगी, उन्हीं ही अधिक मदद हमें कैम्पस में भी रोजमर्रे के मुद्दों पर, जनवादी अधिकार के मुद्दों पर तथा शिक्षा और रोजगार के व्यापक प्रश्नों पर आम छात्रों को संगठित करने में मिलेगी। छात्र आन्दोलन संगठित करने की दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों के कैम्पसों पर केन्द्रित करना अधिक उचित होगा क्योंकि वहाँ आम घरों के छात्र बड़ी तादाद में होंगे, हालाँकि उनकी पिछड़ी सांस्कृतिक-राजनीतिक चेतना के चलते राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण का काम अधिक चुनौतीपूर्ण होगा। जो उच्च शिक्षा के प्रतिष्ठित महानगरीय कैम्पस हैं, वहाँ छात्र आन्दोलन की ज़मीन तो कमज़ोर होगी, लेकिन वहाँ से क्रान्ति की क़तारों में ऐसे उन्नत तत्वों की भरती की संभावना अधिक होगी, जो संख्या में तो निश्चित ही कम होंगे, पर यदि वे आम मेहनतकश जनता के साथ एकरूप हो सके तो अत्यन्त बहुमूल्य सिद्ध होंगे।

हमारा प्रस्ताव है कि बदलती परिस्थितियों के इस आकलन पर तथा नये सिरे से क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन के निर्माण के रास्ते के बारे में, उसके स्वरूप, एजेंडा और प्राथमिकताओं के बारे में, हमारी इस सोच पर इस देश के सभी परिवर्तनकामी छात्र युवा संजीदगी के साथ सोचें, बहस-मुवाहसा करें और प्रयोग करते हुए एकराय होने की कोशिश करें।

राह चाहे हज़ार मील लम्बी हो, शुरुआत एक कदम उठाकर ही की जाती है। हमें एक नयी शुरुआत करनी ही होगी।

भगतसिंह ने जो भविष्य-स्वप्न देखा था, उसे मुक्ति की परियोजना में ढालने और अमली जामा पहनाने का काम अभी भी हमारे साप्तने एक यक्ष-प्रश्न के रूप में खड़ा है। उस महान युवा विचारक क्रान्तिकारी की शहादत के पचहतर वर्ष पूरे होने को आ रखे हैं। क्या अब भी हम उस आह्वान की अनसुनी करते रहेंगे? क्रान्तिकारी तूफ़ानों में उड़ान भरने के लिए अपने पंखों को तोलने के लिए भविष्य मुक्तिकामी युवा दिलों का आह्वान कर रहा है। गर्वीले गरुड़ और तूफ़ानी पितरेल इस आह्वान की अनसुनी कर्तार नहीं कर सकते।

प्रसेन की कविताएँ

व्यक्तित्वांतरण

वो बदल गया है
एकदम बदल गया है
उसका गाल फूल गया है गुब्बारे-सा
कड़वी मगर लाभप्रद बोलने वाली जुबान से
टपकती है एक घातक मिठास
हाथ उठते हैं अब बहुत विशिष्ट अंदाज़ में
पैरों की चपलता जाती रही
पसरे रहने की आदत डाल ली है
गर्दन धूमती ही नहीं
सीने और कमर में भेद नहीं बचा
और तो और
पोशाक भी बदल डाली
लाल की जगह सफेद पहन ली
अजी धोखा न खाना
वह सफेदी कबूतर की नहीं है
शिकार पर झापटने को तैयार
एकाग्र और विनीत भाव में खड़े
बगुले की है
हाँ! वह मेरा मित्र पहले 'कॉमरेड' था!

अँधेरी गुफा की भूलभुलैया में
भटकते-भटकते
जहाँ भी थोड़ी रोशनी दिखती
भागता हुआ पहुँचता वहाँ
इस आस में कि रास्ता हो शायद
लेकिन मिलते भटकते हुए लोग
जिनके पास थोड़ी रोशनी थी
पर रास्ता नहीं
और न होती
बाहर निकलने की बेताबी
जबकि कुछ तो आस ही खो चुके थे
मैं अकुलाने लगा
अँधेरे में दम घुटने लगा

जी किया दीवारें तोड़ दूँ
पर वे टस से मस न हुई
अंततः फिर वहाँ पहुँच गये
जहाँ हरी पीली रोशनी दीवारों पर पड़ रही थी
और कलकलाती-सी आवाज़ आ रही थी
कई बार लौट गये थे
रोशनी वालों की यह दलील सुनकर कि
ऐसे भ्रमजाल यहाँ ढेर सारे मिलते हैं
पर रोशनी जैसे खींच रही थी
इस बार रोक न सका खुद को
और बढ़ चला बाहर निकलने की अजेय ज़िद लिए
और आश्चर्य! मैं बाहर था
सूरज धधक रहा था
हरा रंग चारों ओर बिखरा था
झरनों की आवाज़ें आ रही थीं
विश्वास न हुआ, आँखें भीज़ें
यकीन होने पर ताजी हवा फेफड़ों में भरी
और उस अँधेरी गुफा के मुहाने पर आवाज़ लगायी
“आ जाओ! रास्ता इधर है!”

●

मील के पत्थर पर बैठा, मैं सोचता हूँ फिर-फिर यही
व्यों न तजक्कर मोह इसका और कुछ आगे बढ़ूँ।
व्यों न आगे और बढ़कर शेष सारा देख लूँ
यूँ ठहरकर व्यों भला मैं सील का पत्थर बनूँ।
जिन्दगी रफ्तार का है नाम, रुकना मौत है
सोचता हूँ तुरंत चल दूँ, व्यों रुकूँ मैं व्यों रुकूँ।
हाँ है कुछ संतुष्ट कुछ कर सके औं पहुँचे यहाँ
पर संतुष्ट होता तो भला व्यों सोचता आगे बढ़ूँ।
है यहाँ छाया घनी और पल भी है विश्राम का
पर जो रुके सो रुक गये विश्राम फिर मैं व्यों करूँ।
जिन्दगी की राह पर संघर्ष की इस धूप में
अब तलक चलता रहा तो राह में फिर व्यों थकूँ।
चलता रहे संघर्ष भले ही जिन्दगी के अंत तक
जीत ही मंजिल बने विश्राम तब ही मैं करूँ।

वातिविधि बुलेटिन

अप्पेडकर कॉलेज में दिशा का सांस्कृतिक कार्यक्रम

बाजूर और संवेदनहीन बनाती वर्तमान संस्कृति के खिलाफ संघर्ष होड़ते और एक नयी प्रगतिशील संस्कृति का विकल्प खड़ा करने की कोशिश करते हुए दिशा छात्र संगठन ने डा. भीम राव अप्पेडकर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में एक क्रान्तिकारी सांस्कृतिक कार्यक्रम पेश किया जिसमें कई गीतों और एक नाटक का मंचन किया गया।

इस कार्यक्रम को दिशा की सांस्कृतिक टोली बिहान द्वारा प्रस्तुत किया गया। एक क्रान्तिकारी गीत से कार्यक्रम की शुरुआत करते हुए अभिनव ने कहा कि वर्तमान हावी संस्कृति में संवेदनशीलता न के बराबर है और

मुनाफे पर टिकी यह सांस्कृति युवाओं को कुण्ठित और मानसिक रूपण बना रही है। ऐसे में युवाओं के बीच से एक क्रान्तिकारी विकल्प पेश किये जाने की मुहिम छेड़ने की ज़रूरत है।

कार्यक्रम में आगे कई क्रान्तिकारी गीत पेश किये गए जैसे—आ गद यहाँ जावाँ कदम, ऐ इन्सानों ओस न चाटो, लड़ाई जारी है, साथ ही एक भोजपुरी और बांग्ला गीत भी पेश किया गया।

टोली के सदस्य अजय ने अपनी बात रखते हुए कहा कि आज जिस तरह आरक्षण के मुद्रे पर समाज को बाँटा जा रहा है या छात्रों को आरक्षण का झुनझुना दिखा कर बसगलाया जा रहा है वह शासक वर्ग की साजिश है ताकि छात्र-युवा असली मुद्रे—सबको शिक्षा और रोजगार के समान अवसर—पर न सोचकर ऐसे मुद्रे पर अटके रहें जो असल में कोई मुद्रा ही नहीं। टोली के अन्य सदस्य प्रसेन ने साम्प्रदायिक ताकतों द्वारा जनता को बाँटे जाने की साजिशों को अंग्रेजों की 'बाँटो और राज करो' की नीति का ही अनुसरण बताया जिसे आज की पर्दीयाँ अपना रही हैं।

टोली की एक अन्य सदस्य लता ने कहा कि जहाँ सभी आम वर्गों के लोगों को पूँजीवाद के जुए तले पिसना पड़ रहा है वहीं औरतों को पिरुसत्ता का अतिरिक्त बोझ अपने कन्धों पर होना पड़ रहा है। ऐसे में उन्हें ज्यादा साहसपूर्ण ढंग से इस व्यवस्था के खिलाफ उठ खड़े होना होगा। दरअसल, पूँजीवाद और पिरुसत्ता एक साथ ही खड़े हैं।

अंत में 'देश को आगे बढ़ाओ' नामक नाटक पेश किया गया और भगत सिंह के सपनों को पूरा करने के संकल्प के साथ सभा का समापन कर दिया गया।



अप्पेडकर कॉलेज में क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत करते दिशा के कार्यकर्ता

खालसा कॉलेज (सांध्य) में छात्रों के आन्दोलन की शानदार विजय

शिक्षा के निजीकरण या सीधे शब्दों में कहें कि शिक्षा में मुनाफे की होड़ से जन्मे स्ववित्तपौष्टि कोर्स सुविधाओं और उन्नत तकनीक के नाम पर किस तरह छात्रों को लूट रहे हैं, अब यह खुले तौर पर देखा जा सकता है। लेकिन साथ ही इस लूट के खिलाफ खड़े होते छात्रों के विद्रोह और आन्दोलन इस बात को भी साबित करते हैं कि इंसाफपसन्द नौजवान गलत चीजों को बदलने के लिए हमेशा आगे आए हैं।

ऐसा ही एक उदाहरण पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के खालसा (सांध्य) कॉलेज में देखने को मिला। खालसा कॉलेज (सांध्य) उन चन्द कॉलेजों में से एक है जो दिल्ली विश्वविद्यालय में बी.ए. (हिन्दी पत्रकारिता व जनसंचार) का कोर्स चलाते हैं। मगर इस स्ववित्तपौष्टि कोर्स में हावी अराजकता और अव्यवस्था से सभी छात्र त्रस्त थे। कारण साफ था कि जिन वायदों की बात करके कॉलेज कमेटी ने मोटी रकम ऐंटी थी उन्हें कभी भी पूरा नहीं किया गया था। इस कोर्स में प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ष के सभी छात्रों को

मिलाकर 90 छात्र हैं और प्रत्येक छात्र से करीब 13000 रु. वसूले जाते हैं। गैरतलब है कि जब यह कोर्स 4 साल पहले शुरू हुआ था तब इसकी फीस 7710 रु. हुआ करती थी। मगर फीस में हुई 40 फीसदी बढ़ोत्तरी के बावजूद भी छात्रों को न तो कम्प्यूटर प्रशिक्षण दिया जाता था और न ही उन्हें इण्टर्नेशन पर मीडिया संस्थानों में भेजा जाता था, जिसका बायदा कॉलेज प्रॉस्पेक्टस में किया गया था। ऐसी हालत पिछले चार वर्षों से चली आ रही थी। लेकिन 'देश' के नेतृत्व में पीड़ित छात्रों ने अपनी आवाज उठाई और अपनी माँगों को लेकर कॉलेज प्रशासन के पास गए। लेकिन इस पर भी प्रशासन ने कोई कारगर कदम नहीं उठाया 'देश' ने इस मुद्रे पर व्यापक छात्र समर्थन जुटाने के लिए क्लास-क्लास जाकर हस्ताक्षर अभियान चलाया जिसमें छात्रों का पूरा सहयोग मिला।

इस बार जब 'देश' के नेतृत्व में छात्रों का प्रतिनिधि मण्डल प्राचार्य से मिला तो उनकी शिकायतें भी सुनी गई और वायदों को पूरा करने का आश्वासन भी दिया गया। आखिरकार, छात्रों की एक जुटाता रंग लायी और छात्रों के लिए कम्प्यूटर लैब खोल दी गई। साथ ही, सेमिनारों की संख्या में भी इजाफा हुआ

है। इस संघर्ष में 'दिशा' के नेतृत्व में विजय, दानिश, योगेश, वृष्टि, अमन, जिया, और गुफरान ने अधिक पहलकदमी दिखाई। गौरतलब है कि इस अराजकता के खिलाफ संघर्ष के पहले कुछेक छात्रों के बिखरे प्रयास असफल हो चुके थे। ऐसे में इस आन्दोलन की विजय यह सावित करती है कि अभी भी संगठित प्रयास किसी भी प्रशासन को झुका सकते हैं।

नववर्ष के अवसर पर नए संकल्प

31 दिसम्बर 2004 को नववर्ष की पूर्वसंध्या पर करावलनगर, दिल्ली में नौजवान भारत सभा और बच्चा पार्टी एक संस्कृतिक संध्या का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम में कुछ क्रान्तिकारी गीत और दो नाटक पेश किये गए। इस कार्यक्रम में नौभास ने इलाके की समस्याओं की चर्चा करते हुए वहाँ के बाशिन्दों का इस और ध्यान खींचा कि वहाँ साफ पानी तक की सुविधा नहीं है। नौभास के संयोजक कपिल ने अपने बक्तव्य में कहा कि साफ पानी, साफ - सफाई हर नागरिक का अधिकार है और इस अधिकार के लिए हमें संघर्ष करना चाहिए। एक अन्य सदस्य अधिनव ने कहा कि इतना बक्तव्य बोत जाने के बाद भी करावल नगर के आधे से अधिक हिस्से में अभी भी पवकी सड़क नहीं है। नौजवान भारत सभा ने इन मुद्दों को लेकर संघर्ष करने का संकल्प लिया और जनसमुदाय ने इसमें भागीदारी का आश्वासन दिया।

इसके पहले बच्चा पार्टी के बच्चों ने 'गिरगिट' नामक नाटक और साम्राज्यिक सद्भाव से सम्बन्धित कुछ गीत गए। नौजवान भारत सभा के सदस्यों ने सफदर हाशमी के नाटक 'समरथ को नहिं दोष गुसाई' का मंचन किया और कुछ क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति की।

नौजवान भारत सभा द्वारा मजदूरों के लिए निःशुल्क चिकित्सा शिविर का आयोजन

नौजवान भारत सभा 19 से 21 नवम्बर 2004 को प्रकाश विहार करावलनगर की मजदूर बस्ती में मजदूरों के लिए एक निःशुल्क चिकित्सा शिविर का आयोजन किया। इस शिविर में लोगों की डाक्टरी जाँच हुई और निःशुल्क दवाएँ भी दी गईं। तीन दिनों के दौरान शिविर में करीब 1800 मजदूरों की जाँच हुई और दवा दी गई। इनमें से अधिकांश गन्दे पानी की वजह से पेट की बीमारियों के शिकार थे।

शिविर के आखिरी दिन कार्यक्रम स्थल पर लगी भीड़ एक

जनसभा में तब्दील हो गई नौजवान भारत सभा के प्रसेन ने सभा में उपस्थित मजदूरों और उनके परिजनों को सम्बोधित करते हुए कहा कि वैसे तो चिकित्सा सुरक्षा द्वारा दी जाने वाली निःशुल्क सुविधा होनी चाहिए, मगर ऐसा न होने की सूत्र में हम इस तरह के शिविर का आयोजन कर रहे हैं। मगर यह समस्या का समाधान नहीं है। हमें इस बात को समझना चाहिए कि इस अधिकार के लिए दृढ़ संघर्ष करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं।

दिल्ली विश्वविद्यालय में सचल पुस्तक प्रदर्शनी

गोरखपुर, लखनऊ, उत्तरांचल, पंजाब, हरियाणा के दौरे के बाद 23 जनवरी को जनचेतना सचल पुस्तक प्रदर्शनी की वैन दिल्ली विश्वविद्यालय पहुँची। यह रिपोर्ट लिखे जाने तक वह विश्वविद्यालय के उत्तरी परिसर में ही थी। यह वैन पूरे देश में प्रगतिशील, स्वस्थ और विश्व-प्रसिद्ध साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए लगातार देश के विभिन्न हिस्सों में घूम रही है। दिल्ली विश्वविद्यालय में वैन के साथ दिशा के कार्यक्रमों ने संस्कृतिक कार्यक्रम भी किये। छात्रों ने वैन पर मौजूद पुस्तकों में काफी दिलचस्पी दिखायी और इस मुहिम की काफी प्रशंसा की। प्रदर्शनी में गोकर्ण, प्रेमचंद, जैक लण्डन, चेखोव, अपन सिंक्लेयर सरीखे साहित्यकारों की रचनाओं के अलावा भगत सिंह और उनके साथियों का परिवर्तनकामी साहित्य भी मौजूद था।

नेपाल में राजा का आत्मघाती कदम

(पेज 48 से जारी)

तेजी के साथ छात्रों-युवाओं और मध्यवर्ग की आवादी के बीच उनका बचा-खुचा जनाधार माओवादियों के पाले में खिसकता जा रहा है। उन्हें इसका डर सता रहा है कि मोर्चा बनने का अधिकतम लाभ माओवादी ही उठा ले जायेंगे और उनकी जमीन पूरी तरह खिसक जायेगी।

बहरहाल, नेपाल नरेश ने आपातकाल की घोषणा कर न केवल आत्मघाती कदम उठा लिया है वरन् इससे पहलकदमी पूरी तरह माओवादियों के हाथ में आ गयी है। बदहवासी में ऐसी गलितियां दुनिया के सभी जालिम हुक्मरान किया करते हैं। नेपाली जनता के क्रान्तिकारी जनसंघों पर दमन का नया दौरे शुरू हुआ है। इसका मुकाबला करते हुए माओवादियों के नेतृत्व में नेपाली जनता पुरानी सड़ी-गली सत्ता को उखाड़ फेंककर नयी जनसत्ता कायम करने में कामयाब होगी या नहीं इसका जवाब भविष्य में मिलेगा। लेकिन, इतना तय है कि संघर्ष जिस ऊँचाई तक पहुँच चुका है और जिस गहराई तक जड़े जमा चुका है उसे देखते हुए उसे पूरी तरह नेस्तनाबूद करना सम्भव नहीं।

नेपाल में राजा का आत्मधाती कदम

● आलम

नेपाल नरेश ज्ञानेन्द्र द्वारा आपातकाल की घोषणा नेपाली जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों के प्रचण्ड आधातों से शासक वर्गों में मची हड्डोंग का नतीजा है। अपनी जर्जर हो चुकी सामन्ती निरंकुश सत्ता को बचाने के लिए नरेश ने आत्मधाती कदम उठा लिया है। राजदरबार के इस कदम ने नेपाल में गृहयुद्ध के हालात पैदा कर दिये हैं और नेपाली जनता का मुक्ति संघर्ष निरण्यिक दौर में पहुंच गया है।

नेपाल के अन्दरूनी हालात की जानकारी रखने वाले लोगों को नेपाल नरेश के इस कदम से कोई आश्चर्य नहीं हुआ है। नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के नेतृत्व में पिछले एक दशक से चल रहा जनयुद्ध बर्बर दमन-उत्पीड़न के बावजूद कामयाबी की ओर बढ़ रहा है। अभी कुछ हफ्ते पहले ही माओवादी नेतृत्व का यह बयान आया था कि हमने रणनीतिक प्रत्याक्रमण का पहला चरण सफलतापूर्वक पूरा कर लिया है। उधर शासक वर्गों के खेमे में जनयुद्ध से निपटने के सवाल पर फूट बढ़ती जा रही थी। नेपाली कांग्रेस के दोनों धड़े और नेपाली कम्युनिस्ट पार्टी (एमाले) ही नहीं, राजतंत्र समर्थक मानी जाने वाली सद्भावना पार्टी के कई नेता नेपाल में ‘लोकतंत्र’ बहाली के लिये माओवादियों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की वकालत करने लगे थे। इन नेताओं ने यह विचार भी सार्वजनिक रूप से रखना शुरू कर दिया था कि देश को ‘संकट से उबरने’ के लिये माओवादियों द्वारा प्रमुख रूप से उठायी जा रही नयी संविधान सभा की माँग जायज है। इन हालात में नरेश ज्ञानेन्द्र की सत्ता के लिये खतरा दिन-ब-दिन बढ़ता ही जा रहा था। यही वे हालात थे जिनके मद्देनजर नेपाल नरेश ने अपने प्यादों को बर्खास्त कर अपनी सत्ता बचाने के लिये आपातकाल की घोषणा की।

अब यह सच्चाई किसी से छुपी नहीं रह गयी है कि नेपाली जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों को आतंकवाद के नाम पर कुचलने के लिये अमेरिका, ब्रिटेन, वेलिंगम जैसे साम्राज्यवादी देश ही नहीं बल्कि भारतीय शासक वर्ग भी भारी मात्रा में सैनिक साजो-सामान और आर्थिक मदद पहुंचा रहे हैं। अब यही ताकतें नेपाल नरेश द्वारा आपातकाल की घोषणा का विरोध करती नजर आ रही हैं। इन देशों के हुक्मरान नेपाल में लोकतंत्र और मानवाधिकारों की हत्या को लेकर काफी “चिन्तित” हो गये हैं। इन सभी देशों की ये मुद्राएं दिखावटी हैं। सच बात यह है कि किसी को भी नेपाल में लोकतंत्र बहाली की कोई चिन्ता नहीं है। अंगर सचमुच होती तो लम्बे समय से माओवादियों द्वारा उठायी जा रही नयी संविधान सभा की माँग के समर्थन में ये नेपाली शासक वर्गों पर दबाव बनाते। सबकी साझा चिन्ता यह है कि नेपाल में माओवादियों के हाथ में सत्ता की बागडोर नहीं आनी चाहिए। अमेरिका और उसके सहयोगी देश नेपाल को एक महत्वपूर्ण रणनीतिक चौकी

के रूप में देखते हैं जहां से वे दक्षिण एशिया में अपने साम्राज्यवादी हितों की मजबूत किलेबंदी कर सकें और चीनी एवं भारतीय शासक वर्गों के विस्तारवादी मंसूबों पर भी नकेल कस सकें। इसलिए वे नेपाल में माओवादियों के हाथों में सत्ता की बागडोर आना बर्दाश्त नहीं कर सकते। इसीलिये उन्होंने जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन को आतंकवाद घोषित कर रखा है और उससे निपटने के बहाने लगातार अपनी घुसपैठ बढ़ाते जा रहे हैं।

भारतीय शासक वर्ग की रणनीति यह थी कि अगर नेपाल नरेश संवैधानिक राजतंत्र के ढाँचे को स्वीकार कर पूँजीवादी लोकतंत्र के मुख्यांटे को आगे करने के लिये तैयार हो जाये तो लोकतंत्र की रक्षा के नाम पर माओवादियों को कुचलने में वह और अधिक मुस्तैदी से मदद करता। लेकिन आपातकाल की घोषणा और पूँजीवादी राजनीतिक पार्टियों को रंगमंच से पूरी तरह धकेल देने की नरेश की कार्रवाई ने भारतीय शासक वर्ग की रणनीति को फिलहाली रूप से धक्का पहुंचाया है। इसीलिये भारत सरकार लोकतंत्र-लोकतंत्र चिल्ला रही है। आपातकाल की घोषणा के बाद नेपाल नरेश से अपनी नाराजगी जताने के बावजूद भारत सरकार ने माओवादियों को कुचलने के लिये सैनिक साजो-सामान और अन्य प्रकार की मदद भेजना जारी रखा है। सभी जानते हैं कि नेपाल में भारतीय पूँजीपतियों के जबरदस्त आर्थिक हित भी दाँव पर लगे हैं। नेपाल का 65 प्रतिशत आयात और 80 प्रतिशत निर्यात भारत के साथ होता है। साथ ही इतनी महत्वपूर्ण रणनीतिक चौकी को भारतीय शासक वर्ग अपने हाथ से आसानी से निकलने नहीं देगा। वह यह भी कहती नहीं चाहेगा कि इस चौकी पर अमेरिकी साम्राज्यवादियों का प्रत्यक्ष नियंत्रण कायम हो जाये।

नेपाल में आपातकाल की घोषणा कर नेपाल नरेश ने देश की बुर्जुआ राजनीतिक ताकतों के लिए भी इधर कुआँ उधर खाई जैसी स्थिति पैदा कर दी है। जनता के बहुमंख्यक हिस्से में अपना आधार बना चुके माओवादियों ने आपातकाल के खिलाफ देश की सभी जनवादी और राजतंत्र विरोधी ताकतों के एक व्यापक मोर्चे का आळ्हान किया है। नेपाली कांग्रेस और संशोधनवादी एमाले सहित सभी बुर्जुआ राजनीतिक पार्टियों के लिये दुविधा की बात यह है कि वे अगर मोर्चा बनाते हैं तो भी पहलकदमी माओवादियों के हाथ में होगी और नहीं बनाते हैं तो वे जनता की नजरों से और गिर जायेंगे।

नेपाल के तमाम बुर्जुआ नेता जनता से राजशाही के खिलाफ सड़कों पर उत्तरने का आळ्हान कर रहे हैं, लेकिन बेदिली से। कोई वास्तविक मोर्चा बनाने की दिशा में ठोस पहल करते वे दिखायी नहीं दे रहे हैं। वे बेवस होकर यह देख रहे हैं कि किस

(पेज 47 पर जारी)

बेरोजगारी पर महामहिम की चिन्ता की वास्तविकता

● तपिश

गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या पर महामहिम राष्ट्रपति ने देश में बढ़ती बेरोजगारी पर बड़ी चिन्ता जतायी है। दरअसल यह शासक वर्गों के मन में बैठा हुआ डर ही है जो राष्ट्रपति महोदय के भाषण में उत्तरे आया। उन्हें डर है कि करोड़ों नौजवान हाथों को अगर काम नहीं मिलेगा तो वे हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रहेंगे। जब कोई व्यवस्था अपनी लुटेरी नीतियों के चलते करोड़ों नौजवानों की जिन्दगी को अन्धेरी सुरंग में ठेल देने पर आमादा हो जायेगी तो एक न एक दिन ये नौजवान अपने करोड़ों हाथों से उसे ठेलकर इतिहास की सुरंग में पहुँचा देंगे। यही डर है जो शासकों को बेचैन किये हुए है।

वर्ष 2020 तक देश को एक महाशक्ति बना देने के नुस्खे सुझाने वाले वैज्ञानिक राष्ट्रपति को उन लुटेरी अर्थक नीतियों के बुनियादी ढाँचे से कोई शिकायत नहीं हैं, जो देश में बेरोजगारी का महासागर तैयार करने के लिये जिम्मेदार हैं। उन्हें विकास की उस अवधारणा में कोई खोट नजर नहीं आता जिसे “रोजगारविहीन विकास” कहा जा रहा है। यानी ऐसा विकास जो रोजगार नहीं पैदा करेगा। भूमण्डलीकरण के दौर में विकास की यह नयी अवधारणा है जिसमें अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर तो आगे बढ़ती है, लेकिन रोजगार नहीं बढ़ता। देश का सकल घरेलू उत्पाद (जी डी पी) बढ़ता है, पूँजी निर्माण बढ़ता है, सटी बाजार का कारोबार बढ़ता है लेकिन रोजगार नहीं बढ़ता। विकास की इसी अवधारणा के बूते महामहिम देश को महाशक्ति बनाने का खाब दिखा रहे हैं। साथ ही चिन्तित भी हो रहे हैं कि रोजगार नहीं बढ़ रहा।

आखिर रोजगार कैसे बढ़े? अपनी इस चिन्ता को दूर करने के लिये महामहिम ने केन्द्र सरकार को कुछ सुझाव भी दिये हैं। इन सुझावों पर देश के राष्ट्रीय कहे जाने वाले अखबारों ने गदगद भाव से सम्पादकीय लिखे हैं और उम्मीद जतायी है कि केन्द्र सरकार महामहिम की चिन्ताओं और सुझावों पर गम्भीरता से विचार करेगी। इस उम्मीद की बुनियाद यह है कि राष्ट्रपति राष्ट्र के नाम जो सम्बोधन करते हैं उससे आप तौर पर केन्द्र सरकार की सहमति हुआ करती है।

इस मुगालते में मत रहिये कि महामहिम ने रोजगार बढ़ाने के लिये बन्द कारखानों को खोलने, मनमानी छँटनी पर रोक लगाने या सरकारी कारखानों को देशी-विदेशी पूँजीपतियों को कौटियों के भाव बेचने से रोकने जैसा कोई सुझाव दिया है। महामहिम को इन सबसे कोई गुरेज नहीं है। उन्होंने सुझाव दिया है कि सरकार बंजर भूमि पर बड़े पैमाने पर पेड़ लगाये, जलस्रोतों की हिफाजत करे, गाँवों में स्वास्थ्य विकास योजनाएँ लागू करे, बड़े पैमाने पर बाँस उगाये और ग्राम पंचायतों का कम्प्यूटरीकरण करे। यानी कुल मिलाकर गाँवों की ओर ध्यान दे। इससे रोजगार तो पैदा ही होगा, साथ ही गाँवों से शहरों की ओर पलायन रुकेगा। यानी रोजगार के बारे में महामहिम ने अपनी सभी चिन्ता का बोझ सरकारी ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के कन्धों पर लाकर

पटक दिया है। महामहिम द्वारा पैश किये गये रोजगार बढ़ाने के इन सुझावों पर बरबस यह कहावत याद आती है—“कोयले में आग लगे, सोने पे छापा।”

देश में बेरोजगारी की भवावहता के मद्देनजर महामहिम के इन सुझावों की आप खिल्ली उड़ा सकते हैं लेकिन आपको भूलना नहीं चाहिए कि महामहिम राष्ट्रपति वैज्ञानिक भी हैं, मिसाइलमैन हैं। सो, आपको इन सुझावों के पीछे छिपे गहरे रहस्य की छानबीन गहराई से करनी चाहिये।

यह महज एक संयोग नहीं है कि राष्ट्रपति के सम्बोधन और वित्त मंत्री पी. चिदम्बरम के पिछले बजट भाषण में काफी समानता है। दरअसल जब से कांग्रेसी नेतृत्व वाली नयी सरकार ने केन्द्र में कुर्सी सम्भाली है तभी से बार-बार वह अपने गाँव-प्रेम का प्रदर्शन करती रहती है। इस गाँव-प्रेम के पीछे न तो किसानों की खुशहाली की चिन्ता है और न ही रोजगार बढ़ाने की। इसके पीछे पहली मुख्य वजह है देशी-विदेशी पूँजी को मुनाफा पीटने के लिये नया विशाल बाजार मुहैया कराना। पिछले दिनों कई सर्वेक्षणों में भी यह तथ्य उभरकर सापने आया है कि शहरों के मुकाबले गाँवों में उपभोक्ता मालों की खपत की वृद्धि दर तेज रही है। देशी-विदेशी पूँजीपतियों की निगाहें इसी विशाल उपभोक्ता बाजार पर टिकी हैं। जाहिर है इसके लिये गाँव के लोगों की आमदनी बढ़ाना जरूरी है। इसी को ध्यान में रखते हुए सरकार नयी-नयी ग्रामीण विकास योजनाओं के बारे में सोच रही है। सरकार की रोजगार गारण्टी योजना के पीछे भी चुनावी बादे को पूरा करने की नीटंकी के साथ-साथ गाँवों में बाजार विस्तार की असल मंशा काम कर रही है। महामहिम ने भी इसी पर निशाना साधा है।

सरकार और महामहिम के गाँव प्रेम की दूसरी वजह यह डर है कि अगर गाँव की बेरोजगार नौजवान आबादी को तरह-तरह की ग्रामीण विकास योजनाओं में न उलझाया गया तो वे रोजगार की तलाश में भाग-भाग कर औद्योगिक महानगरों में पहुँचेंगे जहाँ पहले से ही उजरती मजदूरों का महासागर हिलोरे ले रहा है। इन महानगरों में भी जब उन्हें फैक्टरी-दर-फैक्टरी काम की तलाश में भटकना पड़ेगा तो उनकी हताशा विस्फोटक दिशा में मुड़ सकती है। इसलिये हरमुकान कोशिश कर उन्हें गाँवों में ही रोके रखा जाये।

लेकिन विडम्बना यह है कि शासक वर्गों की मंशा पूँजीवादी विकास के निर्माण तर्क के रास्ते में निर्णायक रुकावट बनकर खड़ी नहीं हो सकती। पूँजी हर-हमेशा अपनी अन्दरूनी गति के नियमों से संचालित होती है। यह मुनाफे की कभी न मिटने वाली हवस ही है जो दुनिया भर के पूँजीपतियों को भूमण्डलीकरण की लुटेरी अर्थक नीतियों को लागू करने के लिये मजबूर कर रही है। और ये नीतियाँ पिछड़े से पिछड़े पूँजीवादी देशों को खींचकर उस मुकाम पर खड़ा किये दे रही

(पेज 50 पर जारी)

देश की सुरक्षा के नाम पर वर्दी पहनाकर इंसान को हैवान बना देती है यह मशीनरी

22 जनवरी की सुबह शिकोहाबाद स्टेशन पर पांच यात्रियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा क्योंकि उन्होंने फरकका एक्सप्रेस की उस सामान्य बोगी में चढ़ने की जुर्ती की, जिसमें भारतीय सेना के कुछ जवान पहले से सर कर रहे थे। कहा जाता है कि यात्रियों की उस जनरल डिब्बे में सर कर रहे फौजियों से कहासुनी हो गई और इससे गुस्साये जवानों ने छः यात्रियों को ट्रेन से नीचे फेंक दिया, जिनमें पाँच बगल वाली पटरी पर आ रही संपूर्ण क्रान्ति एक्सप्रेस के नीचे आकर मारे गये। एक व्यक्ति गम्भीर रूप से घायल हो गया। यह था अन्यायी, जुल्मी पूँजीवादी व्यवस्था के एक सबसे छोटे वर्दीधारी प्यारे से आम जन के टकराने का परिणाम!

ऐसा नहीं है कि वर्दीधारी चाहे वह पुलिस के हों या फौज के, किसी बाहरी दुनिया से आते हैं। वह इसी समाज के होते हैं और उनका बड़ा हिस्सा आम जनता से आता है। निर ऐसा क्यों होता है कि ये सिपाही-हवलदार जैसे एकदम निचले पायदान पर खड़े वर्दीधारी भी आमजन से इतना विमुख हो जाते हैं और कभी-कभी तो इनमें से कोई मानवद्वेषी अपराध तक कर बैठता है। पुलिस की वर्दी की छाया तक से आम नागरिक बचता है। भारतीय सेना देश के जिन हिस्सों में कानून व्यवस्था को बनाये रखने के नाम पर भेजी जाती है, वहाँ से उसको वापस बैरकों में भेजने की माँगें उठने लगती हैं। मणिपुर इसका ताजा उदाहरण है (जहाँ सेना के खिलाफ पनपे आक्रोश और बेबसी की चरम अभिव्यक्ति था, वहाँ की कुछ माँओं द्वारा पूर्ण निर्वस्त्र होकर किया गया वह प्रदर्शन जिसमें बैनर पर लिखा था 'भारतीय सेना आओ हमारा बलात्कार करो')।

दरअसल, सेना और पुलिस का पूँजीवादी समाज में

मुख्य काम होता है मुनाफाखोरों के लुटेरे निजाम को बचाये रखना। यह काम करने वालों को नट-बोल्ट की तरह तैयार किया जाता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि सन् 47 की तथाकथित आजादी के बाद आज भी पुलिस-फौज का वही ढाँचा बरकरार रखा गया। आज भी उसी तरह की ट्रेनिंग देकर, आम जन से काटकर इंसान को आज़ाकारी यंत्रमानव में तब्दील कर दिया जाता है। उसे वर्दीधारी और डण्डाधारी बनाकर शासक बन जाने और राज करने का भ्रम दे दिया जाता है। जब ऊपर वाले यानी शासक वर्ग की लूट और ऐयाशियों को एक निचले स्तर का वर्दीधारी देखता और समझता है तो वह भी अपने डण्डे के कुशल प्रयोग के लिए प्रेरित होता है। और कुछ नहीं मिलता तो वह गरीब जनता पर ही रैब गालिब कर सत्ता सुख भोग लेता है। इस सबके बावजूद यह भी सच है कि पूँजीवाद द्वारा गरीब की आत्मा को कुचल डालने की लाख कोशिशों के बावजूद इंसानियत का गला नहीं घोंटा जा सकता। हरचंद प्रयास के बाद भी हर इंसान को यंत्रमानव नहीं बनाया जा सकता। कुछ लोगों के तर्क, विवेक और आत्मा को भले ही नष्ट कर दिया जाय।

शिकोहाबाद कांड के अपराधी फौजियों को सजा देने की माँग करते हुए यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि पूँजीवाद ही ऐसे अपराधियों को पैदा करता है। हमारे घरों में घुसकर हमारे बेटे-बेटियों को हमसे दूर ले जाता है, वह उनकी आत्माओं पर प्रहार करता है। इसलिए असली अपराधी की शिनाखत भी उतनी ही जरूरी है, जितना इन घटनाओं के खिलाफ आवाज उठाना।

बेरोजगारी पर महामहिम की चिन्ता की वास्तविकता

(पेज 49 से जारी)

हैं जहाँ गाँवों की विशाल छोटी-मँझोली खेतिहार आबादी उजड़-पजड़कर शहरी औद्योगिक केन्द्रों की ओर पलायन कर रही है। पूँजीवादी विकास का लाजिमी नतीजा है रोजगार विहीन विकास। दूसरे शब्दों में, आज बेरोजगारी विश्व पूँजीवाद की एक लाइलाज बीमारी बन चुकी है। विश्व पूँजीवादी तंत्र के खान्दे के साथ ही इस बीमारी का खात्मा हो सकता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। सो महामहिम और उनकी बिरादरी की चिन्ताएँ आनेवाले दिनों में कम होने के बजाय बढ़ने ही वाली हैं।

रोजगार के बारे में शासक वर्गों के नुमाइन्दों की फर्जी चिन्ताओं और घड़ियाली आँसुओं से मेहनतकशों को कोई भ्रम

पालने की जरूरत नहीं है। जब तक देश के समूचे उत्पादन तंत्र, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर मेहनतकशों का नियंत्रण नहीं कायम होगा तब तक बेरोजगारी की समस्या से निजात नहीं पायी जा सकती। जब देश में मेहनतकशों की सत्ता कायम होगी केवल तभी एक ऐसी अर्थव्यवस्था का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है जिसमें देश में उपलब्ध विपुल श्रम एवं प्राकृतिक सम्पदा का योजनाबद्ध ढंग से नियोजन कर हर हाथ को काम दिया जा सकता है और करोड़ों नौजवानों की ऊर्जा को एक नया भारत बनाने की दिशा में लगाया जा सकता है। इस अर्थव्यवस्था में मुनाफे के लिये कोई गुंजाइश नहीं होगी। केवल समाज की जरूरतें उसके केन्द्र में होंगी।

खाली बैठे समय न गँवाएँ,
मौके का फायदा उठाएँ
रंगीन टी.वी., फ्रिज, वाशिंग मशीन,
बेड-सोफा, कार, मोटरसाइकिल, वी.
सी.डी. प्लेयर और सोने के गहने के
साथ कई चीजों का

ऑफर

अगर आप इन सब को घर बैठे पाना चाहते हैं तो कर लीजिए धूम-धड़ाके के साथ शादी और वधू के साथ पाइए ढेर सारे उपहार मुफ्त!

है न जोरदार ऑफर! और तो और इन सारी चीजों के साथ आपको तमाम शानदार उपाधियाँ भी मिलेंगी जैसे—भुक्खड़, धनलोलुप, पेटू, लालची, नीच, दोगला, परजीवी, और समाज को दृष्टिकोण से बाला विषेला कीड़ा, आदि।

तो वक्त न गँवाएँ! घर बैठे ये सारे सामान और शानदार उपाधियाँ आप भी पा सकते हैं और समाज के सड़े-गले हिस्से का हिस्पा बन सकते हैं। याद रखें जीवन में तीन चीजें छूटीं तो फिर नहीं मिलतीं—बस, ट्रेन और दहेज। तो अमानवीय दहेज-लोभी और परजीवी बनने के इस ऑफर का लाभ उठाएँ ऑफर समाज के क्रान्तिकारी परिवर्तन तक ही उपलब्ध! उसके बाद हाथ मलते रह जाओगे! तो जल्दी करो!

नौजवान भारत सभा द्वारा जारी

आम लोगों के लिए
जरूरी हैं वे किताबें
जो उनकी ज़िन्दगी की घुटने
और मुक्ति के स्वर्णों तक
पहुँचाती हैं विचार
जैसे कि बासूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी।

जनचेतना

‘परिकल्पना प्रकाशन’ और ‘राहुल फाउण्डेशन’ की पुस्तकों के मुख्य वितरक

परिकल्पना प्रकाशन की नई पुस्तकें	दोन की कहानियाँ	शोलोखोव
	एक तयशुदा मौत	मोहित राय
	चम्पा और अन्य कहानियाँ	मदन मोहन
	षड्यंत्ररत मृतात्माओं के बीच	कात्यायनी
	राख अँधेरे की बारिश में	कात्यायनी
	इस रात्रि श्यामला बेला में	सत्यव्रत

राहुल फाउण्डेशन की नई पुस्तकें	गोथा कार्यक्रम की आलोचना	मार्क्स
	समाजवाद : काल्पनिक और वैज्ञानिक	एंगेल्स
	क्या करें?	लेनिन
	लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्त	स्तालिन
	सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना	माओ
	इतिहास ने जब करवट बदली	विलियम हिण्टन

विस्तृत पुस्तक सूची व पुस्तकों मँगाने के लिए सम्पर्क करें :

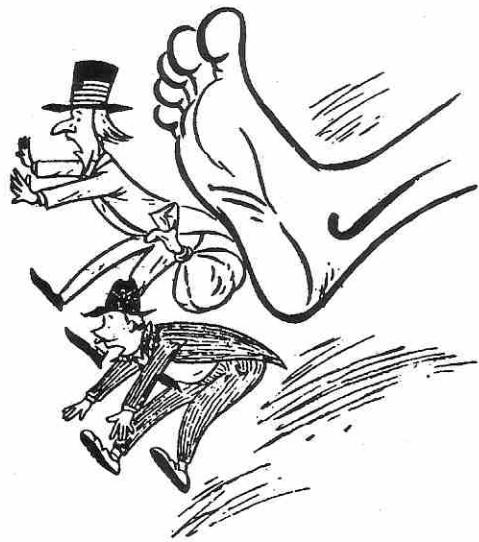
जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फोन-0522-2786782

ईमेल : janchetna@rediffmail.com

राष्ट्रम करो पूँजी का राज! लड़ो, बनाओ लोक स्वराज!



गाँव-गाँव में अलख जगाकर
विदेशी लूट मिटाएँगे
देशी कफनखसोटों को भी
लड़कर मार भगाएँगे
कसम शहीदों की भारत में
लोक स्वराज बनाएँगे

“...हम मानते हैं कि नये सिरे से सब कुछ शुरू करना होगा। मेहनतकश जनता के राज्य और समतामूलक समाज के निर्माण की परियोजनाओं को पुनर्जीवित करना होगा। पूरी दुनिया के पैमाने पर, पिछली सदी के आखिरी चौथाई हिस्से के दौरान मेहनतकशों के इंकलाबों का कारबां रुक-सा गया है और भटका और खिरा भी है। पूँजीवादी लूट और हुक्मसूत के तौर-न्तरीकों में भी अहम बदलाव आये हैं। उन्हें समझना होगा और नई क्रान्तियों की राह निकालनी होगी। यह कठिन है पर असम्भव नहीं। हर नया काम कठिन लगता है। हर नई शुरुआत मजबूत संकल्पों की माँग करती है। इतिहास के हजारों वर्षों के सफर का यह सबक है और पूँजीवादी लूटतंत्र के असाध्य संकटों और लाइलाज बीमारियों को देखते हुए यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि पराजय डैलने के बाद क्रान्तियाँ फिर से परवान चढ़ेंगी। यह सदी नई, फैसलाकुन क्रान्तियों की सदी होगी।

यह हमारा दृढ़ विश्वास है और इस विश्वास के पर्याप्त कारण हैं कि भारत की मेहनतकश जनता भी इस नये विश्व-ऐतिहासिक महासमर में पीछे नहीं रहेगी, बल्कि अगली कतारों में रहेगी। 85 फीसदी लोगों के दुखों और बर्बादियों के सागर में 15 फीसदी लोगों के समृद्धि के टापू और उन पर छड़ी विलासिता की भीनारें हमेशा के लिए कायम नहीं रह सकती। यह तूफान के पहले का सन्नाटा है। इसलिए हुक्मरान वेदेन हैं। तरह-तरह के नये-नये काले कानून बनाकर, पुलिस-फौज को घाक-घौबन्द करके वे निश्चिन्त होना चाहते हैं, पर हो नहीं पाते। उन्हें लगने लगा है कि आम जनता को बाँटने-बरगलाने के लिए उछाले जाने वाले मुद्रे और छोड़े जाने वाले शिकूफे भी बहुत दिनों तक काम नहीं आयेंगे। पूँजीवादी जनतंत्र की कलई चारों ओर से उत्तर रही है। नया रंग-रोगन टिकता नहीं। इसलिए भारत की पूँजीवादी राज्यसत्ता फासिस्ट निरंकुशशाही की ओर खिसकती जा रही है।

इसलिए, ‘क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान’ के जरिए हम इतिहास को गढ़ने वाले और अपने बलिष्ठ हाथों से समय के प्रवाह को मोड़ देने वाले मेहतनकश अवाम के पराक्रम को ललकार रहे हैं और एक नई, कठिन और निर्णायक लड़ाई की तैयारी में शामिल होने के लिए उन तमाम लोगों को निमंत्रण दे रहे हैं, जिनकी आत्माएँ युवा हैं, जो सच्चे अर्थों में जिन्दा हैं।”

दिशा छात्र संगठन, बिगुल मज़दूर दस्ता, देहाती मज़दूर यूनियन, नारी सभा,
दायित्वबोध मंच और नौजवान भारत सभा की ओर से चलाये जा रहे
क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान के पर्चा सैख्या-4 के अंश